मेनन यह बात पक्की कर लेना चाहते थे कि कांग्रेस का वामपक्ष मजबूत हो जाये और इसलिए के० डी० मालवीय और स्वर्गीय डा० कालिया आदि के सहयोग से उन्होंने कांग्रेस तथा देश के वामपंथी तत्वों को संगठित करने का अभियान शुरू किया था।

मेनन का विचार था कि सैनिक हेडक्वाटर में उनका गुट और उनके चहेते कौल का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पद पर आसन्न होना उनकी इन नयी महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने तथा किसी भी संकटपूर्ण परिस्थिति को सम्हालने में सहायक होगा। यह किसी को नहीं मालूम था कि नेहरू के बाद क्या होगा। ऐसी हालत में सेना को हाथ में रखना आवश्यक था।

लेकिन सत्य यह था कि स्वयं कौल न दायें पक्ष के अनुयायी थे, न बायें पक्ष के। वह मूलतः देशप्रेमी और राष्ट्रवादी थे और बर्मा तथा पाकिस्तान जैसे पड़ोसी देशों में सैनिक शासन स्थापित होने के कारण उनके अन्दर व्यक्तिगत राजनैतिक महत्वाकांक्षाएं जाग्रत हो चुकी थीं।

उनके मन में भी यह सवाल बार-बार उठता था कि नेहरू के बाद क्या ? क्या सारा देश विप्लव और अराजकता में डूब जायेगा ? ऐसी परिस्थिति में उनका और सेना का क्या कर्त्तव्य होगा ? कौल के मन में उत्तर निश्चित था। उनका यह विश्वास था कि देश को एक शक्तिशाली और संगठित सरकार की आवश्यकता है और धार्मिक गति-विधि, अयोग्यता और सारे देश में छूतात्मक रोग की तरह फैली हुई बईमानी को देखकर वह तय कर चुके थे कि लोकतंत्रात्मक राज्य व्यवस्था में इतनी क्षमता नहीं है कि वह इन सारी बुराइयों को दूर कर सके।

आने वाले अनिश्चित समय को देखते हुए कौल ने यह ठीक समझा था कि कृष्ण मेनन जैसे गत्यात्मक नेता से बनाकर रखी जाये। इसके अलावा प्रधान सेनापति का पद प्राप्त करने के लिए भी मेनन का प्रश्रय आवश्यक था।

थापर जैसे नर्म स्वभाव के व्यक्ति के प्रधान सेनापति होने के कारण, कौल ही सेना के वास्तविक प्रमुख थे और उन्होंने अपने चारों तरफ ऐसे युवक अफसरों का गुट पैदा कर लिया था जो उनके प्रशंसक थे और किसी दिशा में भी उनके पीछे चलने को तैयार थे। भविष्य में एक विशेष भूमिका अदा करने के लिए कौल पूरी तैयारी कर रहे थे।

कृष्ण मेनन के साथ कौल के सम्बन्ध 'प्रेम-घृणा' के विरोधाभास पर आधारित थे जबकि मेनन कौल के प्रति पूर्णतः सहनशील थे जैसे एक स्नेहशील पिता अपने लाड़ले किन्तु अनयन पुत्र की हर बात बर्दाश्त कर लेता है। अभी १९६३ तक मेनन कौल की बहुत प्रशंसा करते रहे थे हालांकि कुछ लोगों ने उन्हें बताया था कि कौल उनकी बुराई करते हैं। वास्तव में

मेनन ने इन अफवाहों में विश्वास करने से इनकार किया है और कहा है।" "वह सामान्यतः सारे ही राजनीतिज्ञों की बुराई करते होंगे।"

लेकिन सही बात यह है कि कौल मुक्त रूप से दूसरों से मेनन की कमजोरियों के बारे में बातें करते थे और अपने रक्षा मंत्री के आदेशों तथा इच्छाओं को बिना दंड पाये काटते रहे थे। इसका एक उदाहरण है कि मेनन के स्पष्ट आदेशों के खिलाफ कौल ने एक सोवियत हेलिकॉप्टर में सैर की और सोवियत विमानों को रद्द करवा दिया जबकि मेनन ने अमरीकी विमानों की तुलना में रूसी विमानों को ज्यादा पसन्द किया था और उन्हें मँगाने के लिए आर्डर भी दे दिया था। मेनन कौल की इस हरकत पर बहुत ज्यादा क्रुद्ध हुए थे लेकिन जब संसद में विरोधी पक्ष ने इसके खिलाफ आवाज उठायी थी तो मेनन ने कौल के इस काम का समर्थन किया था।

अपने रक्षामंत्री को बताये या उनसे पूछे बगैर कौल सीधे अमरीकी राजदूत से भारत की प्रतिरक्षा समस्याओं के बारे में बात करते थे। वेलेस हैंगन के अनुसार अमरीकी राजनयिकों और जनरलों के साथ वार्ता करने में कौल मेनन की बड़ी शिकायत करते थे और उन्होंने अमरीकनों से कहा था कि वे भरसक भारतीय सेना के साथ सम्बन्ध रखें।

वेलेस हैंगन ने तो यह तक कहा है कि सन् ६२ में, मेनन के विरोध के बावजूद, कौल ने श्री नेहरू को इस बात पर राजी कर लिया था कि वे अमरीकी तथा पश्चिमी अस्त्रों की माँग करें।

वास्तव में कौल ने अनाधिकार रूप से काफी कुछ अपने सिर पर ले लिया और ऐसा करने पर भी वे साफ छूट जाते थे। इसके पहले कि श्री नेहरू संकटकाल में पश्चिम की सहायता माँगने का निश्चय करते, कौल ने अपनी तरफ से भारत की सैनिक आवश्यकताओं की एक फेहरिस्त अमरीकी राजदूत श्री गालब्रेथ को दे दी थी।

उन्होंने इस बात का भी जिम्मा ले लिया था कि अपने साथी अधिकारियों के अभिकथित बुरे चलन के खिलाफ रक्षा मंत्री को सूचना दें। उदाहरणार्थ कौल पर यह आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने ही मेनन को यह बताया था कि जनरल मानेकशॉ ने विधिसम्मत अधिकारों का उल्लंघन किया है। रक्षा मंत्री ने तीन सदस्यों की एक जांच समिति स्थापित की लेकिन इस समिति ने मानेकशॉ के खिलाफ लगाये गये सारे आरोपों को रद्द कर दिया।

एक बार मेनन ने कौल को, उन्हें बताये बगैर सीधे प्रधान मंत्री से प्रतिरक्षा समस्याओं के बारे में बातें करने के लिए आड़े हाथ लिया। कौल ने खरा जवाब दे दिया। यदि मेनन को यह अच्छा नहीं लगा तो उन्हें चाहिए कि वे सीधे प्रधान मंत्री से शिकायत करें क्योंकि प्रधान मंत्री ने स्वयं इस विषय पर उनसे (कौल से) बातचीत की थी।

१९६१ में जब प्रेसिडेंट केनेडी के विशेष प्रतिनिधि के रूप में चेस्टर बाउल्स भारत आये तो उन्होंने कौल से मिलने की इच्छा प्रगट की यह बात मेनन को अच्छी नहीं लगी लेकिन उन्होंने कौल को भी बाउल्स से मिलने से नहीं रोका क्योंकि मुलाकात की इच्छा भी बाउल्स ने प्रगट की थी

१९६१ में नेफा मोर्चे पर भारत की पराजय के बारे में मुझसे बात करते हुए मेनन ने अपनी सामरिक नीति का जिक्र किया। उनकी योजना के अनुसार बोमदीला तक बराबर और नियन्त्रित रूप से अपयान करना था और उसके बाद चीनियों को घेर कर विशाल पैमाने पर उन पर आक्रमण करना था। लेकिन, उन्होंने कहा, कि प्रधान मन्त्री और जनता दोनों का साहस खत्म हो चुका था और ऐसी हालत में अपयान करना असम्भव था। "हम चीनियों को चुनौती देकर उनके छक्के छुड़ा सकते थे क्योंकि भारतीय मैदानों तक उतर आने के कारण वे स्वयं अपने को संकट में फंसा रहे थे, मेनन ने कहा, लेकिन नेहरू घबड़ा उठे थे और देश का साहस तेजी से खत्म हो रहा था। ऐसे समय पर हमारे देश में चर्चिल जैसा व्यक्ति नहीं था। इससे अधिक मैं और कुछ नहीं कहना चाहता क्योंकि उसका मतलब होगा कि मैं नेहरू पर दोष लगा रहा हूं।'

मेनन से मैंने थोराट योजना के बारे में प्रश्न किया। यह योजना जनरल थोराट ने अक्तूबर १९५९ में बनायी थी जब वे पूर्वी कमाण्ड के सेनापति थे। मेनन ने कहा कि उन्होंने ऐसी किसी योजना के बारे में सुना तक नहीं था।

परिस्थिति का सूक्ष्म रूप से अध्ययन करके, जनरल थोराट ने एक 'प्रतिरक्षा रेखा' निश्चित की थी। इसके अनुसार भारतीय सेना को नेफा में काफी दूर तक पीछे हटना था और उसके बाद सेला के बजाय बोमदीला में शत्रु से डट कर युद्ध करना था। इस योजना के आधार पर मार्च १९६० में पूर्वी कमाण्ड ने 'लाल किला' नामक एक मश्क छः दिन तक की थी। यह मश्क यह मान कर की गयी थी कि चीन तथा पाकिस्तान दोनों ने पूर्वी प्रदेश में आक्रमण किया है। इस मश्क के फलस्वरूप जनरल थोराट ने यह भी आंका था कि कितने सैनिकों, अस्त्रों, वाहनों तथा पशुओं की आवश्यकता थी।

लेकिन थोराट योजना जो नेफा की प्रतिरक्षा समस्या का अत्यन्त कुशल तथा आधुनिकतम परिबोध थी, रक्षा मन्त्रालय की दराजों में धूल खा रही थी और सैनिक हेडक्वार्टर में ऐसे लोग अपकचरी सामरिक योजनाएं बना रहे थे जो न नेफा के भूप्रदेश तथा रण परिस्थितियों के बारे में कुछ जानते थे और न जिन्होंने सीमान्त के पार शत्रु के सैनिक केन्द्रीकरण तथा तैयारी के सन्दर्भ में हमारी प्रतिरक्षा आवश्यकताओं को ठीक तरह आंका और समझा था।

जहां तक वायु सेना का सम्बन्ध था, सब से बुरी बात यह थी कि हमें पांच भिन्न देशों से बीस प्रकार के विमान मंगाने पड़ रहे थे जिसको वजह से

मानकीकरण असम्भव था, देख-भाल करना खर्चीला था और हर प्रकार के विमान के लिए विभिन्न प्रकार का प्रशिक्षण आवश्यक था।

उच्चतर तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त किये हुए इन्जीनियरों तथा तकनीकियों को अनुचित रूप से ब्रिटिश लाइसेन्स पर एव्रो टर्बोजेट यातायात विमानों के उत्पादन में लगाकर मेनन ने वायु सेना की परेशानियों तथा कठिनाइयों को और भी बढ़ा दिया था।

इस प्रकार सेना के अनुशासन तथा हौसले से खिलवाड़ करके मेनन ने ऊपर से नीचे तक सेना में अव्यवस्था और संगठनहीनता फैला दी थी। इसके कारण स्वाभाविक रूप से कमान्डरों तथा मोर्चे पर युद्ध करने वाले जवानों का हौसला खत्म हो गया था और यही वजह थी कि नेफ़ा में भारतीय सेना चीनियों के सामने जरा भी नहीं ठहर सकी थी।

ऐसे समय पर जब उत्तरी सीमान्त पर चीनी संकट के बादल धीरे-धीरे इकट्ठे हो रहे थे तो मेनन को केवल यह चिन्ता थी कि कैसे सैनिक हेडक्वार्टर में एक वफ़ादार गुट संगठित करें। ऐसे समय पर उनका कर्त्तव्य था कि अपनी सारी मानसिक शक्ति देश की प्रतिरक्षा पर केन्द्रित करते और महत्वपूर्ण पदों पर सबसे योग्य अफ़सरों की नियुक्ति करते। मेनन अपने बचाव में यह भी नहीं कह सकते कि चीन ने उन्हें अपने आक्रमणशील इरादों का पूर्वाभास नहीं दिया था।

यही कारण था कि मेनन के शत्रु खुली तौर से उन पर यह आरोप लगाते थे कि वे बाद में राज्य विप्लव करने के लिए देश के प्रतिरक्षा संगठन का इस्तेमाल कर रहे थे।

१४

असम्भववादी सैनिक हेडक्वार्टर

नयी दिल्ली के सामान्य वातावरण के अनुकूल १९५४ के बाद से सैनिक हेडक्वार्टर की कहानी काहिली और निश्चिन्तता की कहानी है।

देश की सुरक्षा के मजबूत प्रहरी होने और प्रतिरक्षा सम्बन्धी हर समस्या का हल ढूढ़ने के बजाय, हमारे सैनिक अफसर उत्तरी सीमान्त के प्रतिरक्षा से सम्बन्धित हर प्रस्तावित हल में कोई न कोई कठिनाई फौरन निकाल देते थे।

इस बारे में उन्होंने कई बहाने प्रस्तुत किये थे कि तिब्बत सीमा पर चौकियाँ स्थापित करने तथा सैनिक दस्ते भेजने के विषय पर प्रधान मंत्री के आदेशों को क्यों कार्यान्वित नहीं किया जा सकता था। उस प्रदेश की दुर्गमता, रसद सम्बन्धी कठिनाइयाँ और प्रस्तावित स्थानों का युद्ध नीतिक दृष्टि कोण से बेकार होना—यह भिन्न बहाने थे।

अगस्त १९५० में चीन द्वारा तिब्बत के 'मुक्त' हो जाने के बाद भारत सरकार के विदेश तथा रक्षा मंत्रालयों में जबरदस्त सरगमी शुरू हो गयी थी।

अक्तूबर १९५० में विदेश मंत्रालय के ऐतिहासिक विभाग ने एक नोट तैयार किया था जिसमें तिब्बत पर चीन के अधिकार जमा लेने का महत्व बताया गया था और नेफा सीमान्त की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया गया था। उक्त नोट में लद्दाख की ओर खास ध्यान नहीं दिया गया था।

१२ नवम्बर १९५० को सैनिक हेडक्वाटर ने उत्तर पूरी सीमान्त की प्रतिरक्षा का निरीक्षण किया था और भारतीय सीमान्त के विवादपूर्ण स्थलों पर चीनियों के कब्जा करने की सम्भावनाओं तथा इन सम्भावित अतिक्रमणों को पहले से ही रोकने के लिए आसाम राइफल्स की चौकियों को आगे तक स्थापित करने के औचित्य का अध्ययन करने के लिए एक समिति नियुक्त की थी।

साथ ही विदेश, रक्षा तथा गृह मंत्रालयों की एक अन्तर विभागीय समिति ने यह प्रस्तावित किया था कि नेफा की भारत-तिब्बत सीमा पर २१ चेक-चौकियां फौरन से फौरन स्थापित की जायें।

लेकिन इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए शायद ही कोई कदम उठाया गया था क्योंकि यह आशा थी कि चीन-तिब्बत सीमा समस्या को शान्ति पूर्ण ढंग से हल किया जा सकता है।

दिसम्बर १९५० में प्रधान मंत्री ने लोक सभा में यह घोषणा की थी कि मैकमेंहॉन रेखा को किसी हालत में भंग नहीं होने दिया जायेगा।

इस के फलस्वरूप आसाम के पूर्वी कमान्ड के सेनापति से आग्रहपूर्वक यह कहा था कि प्रधान मंत्री की घोषणा को कार्यान्वित करने के लिए फौरन कदम उठाने चाहिए। उन्होंने इस बात की ओर भी संकेत किया था कि प्रधान मंत्री की घोषणा से एक नया तत्व प्रकाश में आया था और भारत के मुख्य द्वारों पर फ़ौरन अपनी सेना तैनात करना आवश्यक था। राज्यपाल ने यह सुझाव दिया था कि हमारी चौकियाँ ठीक मैकमेंहॉन रेखा तक स्थापित कर दी जायें ताकि हमारी उपस्थिति से सीमान्त पर हमारा दावा सुरक्षित हो जाये

लेकिन बाद में शिलांग में हुए एक सम्मेलन में (जिसमें मुख्य सचिव, पुलिस के इन्सपेक्टर जनरल, सरकार के परामर्शदाता तथा अन्य वरिष्ठ सैनिक और प्रशासकीय अधिकारी शामिल हुए थे) यह तय पाया गया कि मैकमहॉन रेखा तक चौकियाँ स्थापित करने से कोई खास फायदा नहीं होगा क्योंकि सम्भव लाभ की तुलना में कहीं ज्यादा प्रयत्न करने पड़ेंगे।'

१ दिसम्बर, १९५० को भारत सरकार ने एक समिति नियुक्त की जिसके सभापति मेजर जनरल हिम्मत सिंह जी थे। इस समिति का काम था उत्तर में लद्दाख से उत्तर पूर्व में भारत बर्मा सीमा तक उत्तर तथा उत्तर पूर्वी सीमान्तों की प्रतिरक्षा के पूरे क्षेत्र का पर्यवेक्षण करना और अपने सुझाव पेश करना।

१९५१ में इस समिति ने यह प्रस्ताव रखा कि सरकार सीमा प्रश्न का अध्ययन करे और यह तय करे कि समझौते के आधार के रूप में वह उन क्षेत्रों में जहाँ उसकी स्थिति अनिश्चित या विवाद पूर्ण थी वह किस रेखा पर दावा करेगी। समिति ने कहा कि रेखा निश्चित हो जाने के बाद हमें ऐसे क़दम उठाने चाहिए कि हम उस पर सफल रूप से डटे रहें और चीनी या तिब्बती सैनिकों या अफ़सरों द्वारा उन क्षेत्रों पर एक पक्षी रूप से क़ब्जा होने से रोक सकें। समिति की रिपोर्ट में आगे यह भी कहा गया था कि विवादपूर्ण क्षेत्रों में विशेष रूप से सशस्त्र पुलिस को तैनात करना आवश्यक होगा।

समिति ने आग्रहपूर्वक इस ओर ध्यान दिलाया कि "सिक्यांग के संगठित होने और चीन के द्वारा तिब्बत को 'मुक्त' किये जाने के कारण लद्दाख का युद्ध

नैतिक महत्त्व अब और भी बढ गया है और चेतावनी दी कि लद्दाख से उत्तर प्रदेश तक की सरहद में स्थित कई दर्रों के कारण "यह सारा क्षेत्र अतिक्रमणों के लिए भग्न है।"

समिति ने इस बात पर भी जोर दिया कि जाडो में बर्फ जम जाने की वजह से किसी हालत में यह नहीं मान लेना चाहिए कि यह दर्रे दुर्भेद्य हैं क्योंकि दृढ़ निश्चय रखने वाला शत्रु काफी हद तक प्राकृतिक बाधाओं पर विजय प्राप्त कर सकता है।

नैतिक तिब्बत पर चीन के कब्जा कर लेने की बात पर उत्तेजना के धीरे-धीरे खत्म होने के कारण भारत तिब्बत सीमा को सुरक्षित करने की बात भी पीछे चली गयी। और 'हिन्दी चीनी भाई भाई' युग के आरम्भ होने के कारण कम से कम, जनता और पत्रकार सीमा समस्या को बिल्कुल ही भूल गये।

समिति के प्रस्तावों और उसकी आशंकाओं की तरफ केवल इस सीमा तक ध्यान दिया गया कि १९५१ में गृह मन्त्रालय ने लद्दाख में पनामिक दाइयाँक, चुशूल तथा दमचोक में तीन प्रशासकीय चौकियाँ स्थापित की और १९५३ में एक घटना के बाद, राज्य सरकार ने भारत-तिब्बत सीमा पर गढ़वाल के निलांग नामक स्थान में बनी अपनी चौकी की शक्ति बढ़ायी।

मई, १९५४ में भारत तथा चीन के बीच एक समझौते पर हस्ताक्षर होने के बाद चीन के सम्बन्ध में तेज सरगर्मी का दूसरा दौर शुरू हुआ।

जुलाई, १९५४ में प्रधान मन्त्री ने विदेश मन्त्रालय के सेक्रेटरी-जनरल, विदेश सचिव, रक्षा सचिव तथा वाणिज्य और उद्योग मन्त्रालय के नाम एक ज्ञापन पत्र लिखा।

उक्त ज्ञापन-पत्र में श्री नेहरू ने बताया कि यह समझौता चीन तथा तिब्बत के साथ हमारे सम्बन्धों में एक नया मोड़ है और बताया कि हमारी नीति के अन्तर्गत तथा चीन के साथ हमारे समझौते के फलस्वरूप, उत्तरी सीमान्त को निश्चित और ठोस समझना चाहिए—उसके बारे में किसी से विवाद करने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। प्रधान मन्त्री ने आदेश दिया कि इस सारे सीमान्त पर चक चौकियाँ स्थापित कर देनी चाहिए, विशेषतः ऐसे स्थानों पर जिन्हें विवादपूर्ण समझा जाता हो।

प्रधान मन्त्री की इस महत्त्वपूर्ण घोषणा को कार्यान्वित करने के लिए कोई समन्वित योजना नहीं बनायी गयी।

२९, अक्तूबर, १९५४ को भारत सरकार ने तिब्बत में तैनात अपने गैरिसनों को हटा लिया—यह इस बात का संकेत था कि तिब्बत के मामलों में भारत ने अपना हाथ खींच लिया है। यह गैरिसन भारत की अंग्रेजी सरकार ने ग्यात्से और यातुंग में स्थापित किये थे और लगभग ५० वर्ष से वहाँ थे।

तिब्बत सरकार के लिए उनकी भूमि पर भारतीय गैरिसनों की उपस्थिति इस बात का प्रमाण थी कि भारत सरकार को तिब्बत की स्वतन्त्रता और उसकी बाहरी प्रतिरक्षा में क्रियात्मक दिलचस्पी है।

सितम्बर, १९५४ में विदेश, रक्षा तथा गृह मंत्रालयों के प्रतिनिधियों के एक सम्मेलन में सात स्थानों की विवादपूर्ण स्थितियाँ निश्चित किया गया था। क्योंकि यह समझा गया था कि न गृह मंत्रालय और न राज्य सरकारों में आवश्यक क्षमता है इसलिए इन चौकियों पर सैनिक तैनात करने का उत्तर-दायित्व रक्षा मंत्रालय को सौंपा गया था।

लेकिन रक्षा मंत्रालय ने इस उत्तरदायित्व को स्वीकार करने में झिझक प्रगट की और जब उसे दबाया गया तो उसने इस बात पर और भी अधिक गौर करने का वायदा किया। प्रत्यक्ष है कि 'बात पर और अधिक गौर करने का' कोई फल नहीं निकला। इन चौकियों पर सैनिक तैनात नहीं किये गये और बाद में चीनी, अपनी इच्छा के अनुसार, इन खाली चौकियों पर क़ब्ज़ा करते और उन्हें छोड़ते रहे। सन् १९५४ तक लद्दाख में चौकियों की संख्या तीन से बढ़ कर पाँच हो गयी थी।

सितम्बर, १९५६ में हिमांचल-तिब्बत सीमा पर शिपकीला की घटना के बाद, प्रधान मंत्री ने हिमांचल प्रदेश सरकार को निम्नलिखित आदेश दिये :

१. हमारी सेना को शिपकीला से जितना निकट सम्भव हो तैनात रहना चाहिए।

२. हमारी सेना को अपनी वर्तमान स्थिति से आगे नहीं बढ़ना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से चीनियों के साथ संघर्ष होने की सम्भावना है।

३. यदि चीनी हमारी भूमि पर आगे बढ़ें तो उन्हें रोकना चाहिए। रोकने का काम हाथ में ले लेने से पहले चीनी कमान्डर को बता देना चाहिए कि हमारी आज्ञा के बिना उनके शिपकीला दर्रे को पार करने को हम अग्र-घर्षण समझेंगे, अतः उन्हें वापस लौट जाना चाहिए।

४. हम चीनियों को आगे नहीं बढ़ने देंगे और यदि वे पीछे नहीं हटेंगे तो हम इस दिशा में आगे क़दम उठायेंगे। हमारे कमान्डर को यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि वह अभी आगे क़दम इसलिए नहीं उठा रहे हैं कि यह बात दिल्ली और पेकिंग तक पहुँचा दी गयी है और इसलिए भी कि दोनों देशों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्ध हैं लेकिन यदि इसके बाद भी अग्रघर्षण हुआ तो संघर्ष अनिवार्य हो जायेगा।

५. हम यह चाहते हैं कि यदि हमारी इस चौकी की सैनिक संख्या बढ़ाने की आवश्यकता हो तो आप फ़ौरन वहाँ कुछ अतिरिक्त सैनिक या सीमा सुरक्षा पुलिस के सिपाही भेज दें।

६ हम चीनी दूतावास से एक बार आपत्ति प्रगट कर चुके हैं और हम यहाँ भी और पेकिंग म अपने राजदूत तथा ल्हासा में अपने कौंसल जनरल के द्वारा फिर से आपत्ति प्रगट करेंगे।

लेकिन पचशील समझौते का नशा अभी तक सरकार और देश पर छाया हुआ था। और व तस्वीर के इस विरोधी रुख को देखने के लिए तैयार नहीं थे कि भारत चीन सीमा पर सकट खडा हो सकता है।

अक्साइ चिन मे चीन के अतिक्रमण के प्रकाश मे आने के फलस्वरूप १९५८ मे दिल्ली में सरगर्मी का तीसरा दौर शुरू हुआ। यह दौर और भी तीव्र हो गया था क्योंकि अगले वर्ष अप्रैल में दलाइ लामा ने भारत मे शरण ले ली थी।

अक्साइ चिन में चीनी सडक बन जाने के बाद दिसम्बर १९५८ में सैनिक हेडक्वाटर ने रक्षा मत्रालय के सामने यह सुझाव रखा था कि कराकोरम दर्रे के पास एक भारतीय चेक चौकी स्थापित कर दी जाये ताकि दर्रे में से किसी चीनी अतिक्रमण की पूर्व चेतना मिल सके।

वास्तव म १९५८ तक कोई भारतीय अधिकारी अक्साइ चिन नही पहुँचा था—उसके बाद ही हमारे दस्ते उस इलाके मे गश्त लगाने के लिए पहली दफा भेजे गये थे।

८ जनवरी, १९५९ को नयी दिल्ली में हुई एक मीटिंग में यह तय किया गया कि मध्य लद्दाख के सॉगस्त्सालू, चामल सु गपा और दिगल ग नामक स्थानों में प्रशासकीय चौकियाँ स्थापित की जायें। यह भी निश्चित किया गया कि एक प्रशासकीय टोह दल लानक ला भेजा जाये ताकि पूरी टोह लेने के बाद इस माग पर सीमा से निकटतम स्थान पर एक चेक चौकी स्थापित की जा सके।

२८ जुलाई को चीनियों ने खुर्नाक दुर्ग को भेजे गये हमारे एक प्रशासकीय गश्ती दस्ते को गिरफ्तार कर लिया। २० दिन बाद उन्हें चुशुल में स्थित हमारी चेक चौकी पर रिहा किया गया।

उसी वष अगस्त म चीनियों ने स्पागगुर मे अपनी एक चौकी स्थापित की—यह स्थान स्पष्टत भारतीय सीमा के अन्दर था। इस पर सैनिक हेडक्वार्टर ने पश्चिमी कमाण्ड को आदेश दिया कि चुशुल मे प्रस्तावित चौकी फौरन स्थापित कर दी जाये और चुशुल मे स्थित गैरिसन से कहा जाये कि भविष्य मे चीनी अतिक्रमणो को रोकने के लिए वह सारे सीमान्त पर क्रियात्मक रूप से गश्त लगाता रहे।

साथ ही सैनिक हेड क्वार्टर ने यह स्पष्ट कर दिया था कि चीनियो को स्पागगुर से निकालने के लिए कोई आक्रमणशील प्रयत्न न किया जाये।

सैनिक हेडक्वार्टर ने इस बात पर ज़ोर दिया कि भारत-तिब्बत सीमा के लद्दाख इलाक़े में जम्मू-कश्मीर के मिलीशिया को तैनात करने के पीछे यह विचार था कि उस क्षेत्र में परम्परागत सीमा के इस पार भारतीय भूमि पर हमारा व्यावहारिक और क्रियात्मक अधिकार स्थापित हो जाये और बराबर गश्त लगाते रहने से चीनियों तथा अन्य अनधिकृत लोगों के अतिक्रमण रोक दिये जायें।

पश्चिमी कमान्ड को यह आदेश दिया गया कि यदि हमारे इलाक़ों में चीनियों से मुठभेड़ हो तो भी अस्त्रों का प्रयोग न किया जाये जब तक आत्म-रक्षा के लिए ऐसा करना आवश्यक न हो जाये। "ऐसी परिस्थिति में उन्हें हमारी भूमि से हट जाने के लिए राज़ी करने का प्रयत्न करना चाहिए। उनके ऐसा करने से इनकार करने के बावजूद पूर्व स्थिति क़ायम रखी जाये और हेड क्वार्टर को इस विषय पर सूचित कर दिया जाये ताकि मामले को राजनयिक तरीक़ों से हल किया जा सके।"

अक्तूबर में सैनिक हेड क्वार्टर की आँख अचानक खुली और उन्हें यह मालूम पड़ा कि लद्दाख में हमारी प्रतिरक्षा व्यवस्था अत्यन्त अपर्याप्त थी और सारी सीमा पर फैली हुई हमारी चार चौकियों में इतनी शक्ति नहीं थी कि किसी बड़े चीनी आक्रमण को सह सकें। न उस समय यह सम्भव था कि, भू-प्रदेश और बुरी संचार व्यवस्था को देखते हुए, ऐसी सेना सीमा पर तैनात की जा सके जो सफलता से सीमा की रक्षा कर सके। इसलिए सैनिक हेडक्वार्टर ने पश्चिमी कमान्ड से यह कहा कि सम्भावित चीनी अग्रधर्षण का मुक़ाबिला करने के लिए एक सामान्य प्रतिरक्षा रेखा प्रस्तावित करे।

इस आत्म-स्वीकृति का इतने विलम्ब से प्रगट करना एक परेशान कर देने वाली बात थी।

पश्चिमी कमान्ड ने एक योजना पेश की जिसमें वह रेखा निर्धारित की की गयी थी जहाँ से चीनी आक्रमण की बाढ़ को रोकने का प्रस्ताव रखा गया था। यह कार्य पूरा करने के लिए पश्चिमी कमान्ड ने यह माँग की थी कि १९६० में लद्दाख में चार डिवीज़न तैनात कर दिये जायें और उसके साथ कुछ सहायक अस्त्र तथा सेवाएँ भी भेजी जायें। कहा गया था कि फ़ौरन लद्दाख की रक्षा करने के लिए यह अल्पतम सैनिक आवश्यकताएँ थीं इस बात की भी माँग की गयी थी कि १९६१ में एक और डिवीज़न लद्दाख पहुँचा दिया जाये।

साथ ही पश्चिमी कमान्ड ने यह भी कहा था कि कारगिल से लेह तक फ़ौरन एक ऐसी सड़क बना दी जाये जिस पर एक टनी यातायात ले जाया जा सके—इससे लद्दाख में स्थित सेना के हवाई अवपातन पर निर्भर रहने की मजबूरी बहुत कम हो जाती।

उसी महीने प्रधान मंत्री ने लद्दाख की सुरक्षा तथा सारी लद्दाख-तिब्बत सीमा पर अन्य आवश्यक सैनिक कारवाई करने की जिम्मेदारी सेना पर डाल दी। इस तरह तिब्बती सीमान्त सेना से हमारी सेना का सीधा सम्पर्क हो गया और गश्त लगाने आदि का काम पूरी तरह सेना पर आ पड़ा।

सेना इन सब उत्तरदायित्वों के लिए किस सीमा तक अन्तस्त थी यह नयी दिल्ली से ३१ अक्तूबर, १९५९ को भेजे गये एसोसियेटेड प्रेस के न्यूयॉर्क टाइम्स में प्रकाशित हुए डिसपैच से पता चलता है। उक्त डिसपैच में लिखा गया था "अपने हिमाचल सीमान्त के पास के बड़े-बड़े इलाकों को साम्यवादी चीन से सुरक्षित रखने की आशा भारतीय सेना ने त्याग दी है।' डिसपैच में कहा गया था कि यह सूचना विश्वस्त सूत्र से प्राप्त हुई थी।

यह स्पष्ट है कि नयी दिल्ली में स्थित एसोसियेटेड प्रेस के सम्वाददाता ने यह डिसपैच अपने मन से नहीं गढ़ी होगी बल्कि यह सूचना उसे सेना के किसी ऊँचे तथा जिम्मेदार अफसर से प्राप्त हुई होगी। डिसपैच में कहा गया था 'यदि अगले वसन्त में तिब्बत में स्थित चीनी सेना ने भारत के उन सीमान्ती क्षेत्रों पर कब्जा करने का प्रयत्न किया जिन पर वे दावा करते हैं तो भारतीय युद्ध नीति यह होगी कि लगभग बिना लड़े यह विशाल क्षेत्र वे शत्रु को देते चले जायें। शत्रु के अपनी भूमि के काफी अन्दर तक घुस आने के बाद ही वे उससे डट कर मोर्चा लेने की स्थिति में होंगे।"

डिसपैच में आगे यह भी कहा गया था "कहा जाता है कि सेना ने यह फैसला इसलिए किया है कि सड़कों तथा अन्य सुविधाओं के अभाव के कारण बड़े सैनिक दस्तों का सीमा तक पहुँचाना उसके लिए असम्भव है।"

अक्तूबर, १९५९ में जो परिस्थिति थी उसके बारे में इस डिसपैच ने अत्यन्त कटु सत्य व्यक्त किया था। लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि अक्तूबर १९६२ तक यही स्थिति बनी रही—बीच के तीन वर्षों में तिब्बत सीमा पर हमारी सेना की तैयारी में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई।

हम यह देखते हैं कि प्रधान मंत्री के स्पष्ट आदेशों और चेतावनियों तथा उच्चतम स्तर पर हमारे अधिकारियों के सोच विचार के बावजूद १९५९ के अन्त में भी लद्दाख में भारतीय नियंत्रण रेखा वहीं थी जहाँ १९५४ में थी। इसी बीच लद्दाख में अपनी सैनिक कार्रवाइयों को पुष्ट करने के लिए चीनियों ने सड़कों का जाल बिछा दिया था—उत्तर पूर्व में अक्साई चिन मार्ग, मध्य सेक्टर में पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाली लानक्ला-कोंगका ला सड़क और जीप मार्ग और धुर उत्तर में सिक्यांग-किझिल जिल्गा-शिंगलुंग-सुमदो को मिलाने वाली सड़क।

नेफा में यद्यपि काफी क्षेत्र पर प्रशासनीय नियंत्रण स्थापित किया जा चुका था फिर भी सेना वहाँ पर्याप्त रूप से नहीं पहुँची थी।

२१ मई, १९६० को रक्षा मंत्रालय ने यह फैसला किया था कि 'अगले कुछ महीनों में शुकपा-कुशांग-कटालिक-मुर्गो होती हुई शियॉक से कराकोरम दर्रे तक जाने वाली व्यापारी सड़क पर भारतीय सेना अपने आप को स्थापित कर ले और पिकेट स्थापित कर लेने के बाद पूर्व की ओर गश्त लगाना शुरु करे।

इस प्रकार जब चीनी भारत भूमि के बड़े-बड़े टुकड़ों को निगले जा रहे थे और बिना किसी भय के हमारे सैनिकों को गिरफ्तार कर रहे थे, तो नयी दिल्ली में अधिकारियों के बीच इस विषय पर भीषण बहसें चल रही थीं कि चीनियों से सशस्त्र संघर्ष करने से बचने के लिए हमारे गश्ती दस्तों को कितनी दूर तक जाने का साहस करना चाहिए।

२ जून, १९६० को सैनिक हैड क्वार्टर ने पश्चिमी कमाण्ड को लद्दाख में भारत-तिब्बत सीमा की सुरक्षा के सम्बन्ध में भारत सरकार की नवीनतम नीति समझायी। इसके अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के अपनी तरफ वाले प्रदेश में हमें उन स्थितियों पर मजबूती से अपना कब्जा कायम रखना चाहिए जिन पर इस समय हमारा अधिकार है। जहाँ तक विवादपूर्ण क्षेत्रों का सम्बन्ध है, उस पूर्व स्थिति को कायम रखा जायेगा जो कुछ समय से चली आ रही है।"

सैनिक हैडक्वार्टर ने आगे कहा : "उपरोक्त नीति के अन्तर्गत यह आवश्यक है कि हम उन क्षेत्रों पर अधिकार कायम रखें जिनके बारे में या तो कोई विवाद नहीं है या जिन पर किसी पक्ष का कब्जा नहीं है और इसके साथ भावी अतिक्रमणों को रोकें।"

२८ मई, १९६० को विदेश सचिव, एस० दत्त ने गश्त सम्बन्धी नीति प्रतिपादित की। उन्होंने कहा कि भारत पर ऐसा कोई दबाव नहीं था जिसके फलस्वरूप वह अग्रिम गश्ती दस्ते न भेज सके। फिर भी हमारी यह जिम्मेदारी थी कि सीमान्त पर झगड़े होने की सम्भावनाओं को कम करें और इसलिए काफ़ी कुछ इस बात पर निर्भर था कि सेक्टर विशेष की परिस्थिति क्या है। उदाहरणार्थ यदि हमें यह मालूम था कि सीमा के ठीक उस तरफ़ एक चीनी चौकी है तो हमें उस चौकी की दिशा में अपना गश्ती दस्ता नहीं भेजना चाहिए क्योंकि इससे दोनों पक्षों में झगड़ा होने की सम्भावना बहुत बढ़ सकती थी। इसके विपरीत यदि हमारी चौकी सीमा से चार-पाँच मील दूर थी और हमें यह नहीं मालूम था कि सीमा के पार दूसरे पक्ष की स्थिति क्या है तो इस बात का कोई कारण नहीं था कि हमारा गश्ती दस्ता आगे न बढ़े। लेकिन दस्ते को यह समझा देना आवश्यक था न तो दूर से और न चीनी दस्ते के सामने भी पहुँच कर अस्त्रों का प्रयोग करें। हमारे दस्ते को वापस आ कर

निकटतम चौकी पर रिपोर्ट देनी चाहिए ताकि यह बात उच्चतम अधिकारियों तक पहुँचायी जा सके और इस बारे में आदेश प्राप्त किये जा सकें कि आगे क्या करना चाहिए।

३० अगस्त को सैनिक हैडक्वार्टर ने इस विषय पर पश्चिमी कमाण्ड को अन्तिम आदेश दिए। साथ ही, रक्षा मंत्रालय को लिखे गये एक नोट में, जनरल स्टाफ़ के तत्कालीन प्रमुख जनरल सेन ने इस बात की चेतावनी दी कि यदि विदेश सचिव के २६ मई के नोट के अनुसार गश्ती कार्रवाई तीव्र की गयी और विवादपूर्ण स्थानों में चौकियाँ स्थापित की गयीं तो इस बात की पूरी सम्भावना है कि चीनियों में इसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हो। उक्त नोट में इस बात पर भी ज़ोर दिया गया कि ऐसी हालत में "इस बात की सम्भावना पैदा हो सकती है कि बहुत दिनों शान्त पड़ी हुई अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर सरगर्मी भड़क उठे।'

जनरल सेन ने यह भी समझाया कि संचार सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण उस समय तक सीमित संख्या में ही सैनिकों को लद्दाख भेजना सम्भव हो सका था। अतः उस क्षेत्र में प्राप्य सैनिकों को देखते हुए यह मुश्किल था कि सेना किसी बड़े चीनी आक्रमण को झेल सके।

जनरल स्टाफ़ के प्रमुख के इस नोट ने, जो ५ सितम्बर को विदेश सचिव को भी दिखाया गया था, विदेश मंत्रालय में हलचल मचा दी। उक्त अवसर पर एम० दत्त ने यह कहा था "यह ताज्जुब की बात है कि मई में जो फ़ैसले लिए जा चुके हैं उन्हें अब तक कार्यान्वित नहीं किया गया है।"

विदेश सचिव की इस टिप्पणी के फलस्वरूप रक्षा मंत्री ने सैनिक हैड-क्वाटर से जवाबतलब किया। उत्तर देते हुए जनरल स्टाफ़ के प्रमुख ने बताया कि कई संचार सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण सेना तैयार नहीं थी और लद्दाख में सरकार के आदेशों को कार्यान्वित करने में असमर्थ थी।

यह देखते हुए कि परिस्थिति इस प्रकार की थी जिसके बारे में तुरन्त कदम उठाना अनिवार्य था, सैनिक हैड क्वार्टर ने क्या कदम उठाये थे तो उन कठि-नाइयों को दूर करने के लिए जिनकी तरफ़ जनरल स्टाफ़ के प्रमुख ने अपने जवाब में संकेत किया था ? इस बात का कोई खास प्रमाण नहीं है कि उक्त कठिनाइयों को हल करने के लिए कोई विशेष प्रयत्न किये गये थे।

यूँ यह बात अवश्य मान लेनी चाहिए कि जनरल स्टाफ़ के प्रमुख तथा सैनिक हैडक्वार्टर इस दिशा में तब तक कुछ नहीं कर सकते थे जब तक मंत्रिमण्डल इस बात को उच्च प्राथमिकता नहीं देता और सरकार इस बात की छूट नहीं देती कि लाल फ़ीते के गोरखधन्धे को काट कर काम को गति दी जाये।

फिर भी सैनिक हैडक्वार्टर इस आरोप से नहीं बच सकता कि संकट के प्रति सजग न होने के कारण उसने अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं किया। देश की बाहरी सुरक्षा के प्रहरी होने की हैसियत से सैनिक हैडक्वार्टर को चाहिए था कि सिर पर संकट आ पहुँचने के पहले ही सरकार को चेतावनी देता और उसे पूर्णरूप से क्रियाशील होने के लिए विवश करता।

१६६० के बाद, जब संकट मुँह बाये ठीक सामने खड़ा था और प्रस्तुत जिम्मेदारी को पूरा करना अनिवार्य हो गया था तो सेना में तुरन्त-भाव अचानक जाग्रत हो गया। लेकिन सरकार अब भी यह मानने को तैयार नहीं थी कि चीनी संकट असली है या उसके इतनी जल्दी टूट पड़ने की सम्भावना है। अतः अब सेना की बारी थी कि सरकार के अन्दर तुरन्त-भाव पैदा करे और चीनी आक्रमण का सफलता से सामना करने के लिए सेना को पर्याप्त रूप में साधन सम्पन्न बनाने के महत्त्वपूर्ण काम को जल्दी-से-जल्दी पूरा करने के लिए उसे हर तरीके से उकसाये।

लेकिन यह करना भी आसान नहीं था क्योंकि सरकार तथा सेना को अब तक यह विश्वास था कि चीनी भारत से कोई निर्णयात्मक संघर्ष नहीं करेंगे और यह कि वे केवल लुका-छिपी का खेल खेल रहे थे।

१६६० के अन्त के आस-पास लद्दाख के हॉट स्प्रिंग्स क्षेत्र के निकट काफ़ी तीव्र चीनी सरगर्मी देखी गयी। इस बात का सन्देह किया गया कि उत्तर से दक्षिण जाने वाली अक्साइ चिन सड़क को दक्षिण में लानक ला से शुरू होकर कोंगका ला दर्रे से गुजरने वाले मार्ग से मिलाने वाली एक सड़क बनाने के लिए चीनी उस क्षेत्र का पर्यवेक्षण कर रहे है।

यह आवश्यक था कि ऐसी कोई भी सड़क हॉट स्प्रिंग्स होकर या उसके बाजू से गुजरती—और हॉट स्प्रिंग्स भारत में काफ़ी अन्दर को है। वहाँ एक भारतीय सैनिक चौकी भी स्थित थी। इसलिए यह तय किया गया कि हॉट स्प्रिंग्स में स्थित अपनी चौकी की शक्ति बढ़ा दी जाये और गश्ती दस्ते बराबर उस सीमा तक भेजे जायें जिसका दावा चीनियों ने अपने १६५६ के मानचित्र में किया था।

प्रधान मंत्री ने इस प्रस्ताव को अपनी स्वीकृति दे दी। ३० दिसम्बर को सैनिक हैडक्वार्टर ने पश्चिमी कमान्ड को यह आदेश दिया कि इस फैसले को कार्यान्वित कर दे। इसके तीन महीने बाद तक यह फैसला केवल शाब्दिक रूप में ही था।

२२ मार्च, १६६१ को जनरल स्टाफ़ के नये प्रमुख जनरल कौल ने रक्षा मंत्रालय से यह निवेदन किया कि सरहदी सड़कों, हवाई अड्डों के निर्माण, लद्दाख में स्थित सेना को सामग्री पहुँचाने तथा बुरे मौसम की वजह से बहुत कम

ऐसे दिन होने के कारण जिनमें विमान चलाना सम्भव था, लद्दाख में इस्तेमाल किये जाने वाले विमान दल के लिए यह सम्भव नहीं हो सका था कि आवश्यक अतिरिक्त सेना लद्दाख पहुंचाता। जनरल स्टाफ के प्रमुख ने कहा कि इस वजह से कम-से-कम कुछ समय के लिए लद्दाख में अपनी रक्षा व्यवस्था को इन दो कामों तक ही सीमित करना पड़ेगा - (१) लद्दाख के उन इलाकों में भावी अतिक्रमण रोकना जिन पर तब तक किसी पक्ष का कब्जा नहीं था, और (२) लेह की रक्षा करना।

जनरल स्टाफ के प्रमुख के इस पत्र से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि सैनिक हेडक्वार्टर में ऐसे विषय पर तुरन्त-भाव का पूर्ण अभाव था जो देश के सीमान्त की सुरक्षा से सम्बन्धित था। यह भी जाहिर होता है कि प्रधान मंत्री तक के आदेशों के प्रति सेना कितनी लापरवाह थी।

१२ अप्रैल, १९६१ को पश्चिमी कमाण्ड ने उन प्राप्य सैनिक दस्तों की अनल्परता के बारे में जनरल स्टाफ के प्रमुख को लिखा जिन पर लद्दाख तथा पाकिस्तान के पास के सरहदी इलाकों की सुरक्षा का भार था। इस पर जनरल स्टाफ के प्रमुख ने रक्षा मंत्रालय को एक महत्त्वपूर्ण पत्र लिखा।

उक्त पत्र में कौल ने स्पष्ट रूप से यह कहा कि १५वीं कोर के पास साधनों की इतनी कमी थी कि वह चीनी अग्रधर्षण को किसी हालत में नहीं रोक सकती थी और इसलिए लद्दाख के अग्रिम क्षेत्रों में हमें पहली प्रारम्भिक पराजय स्वीकार करनी पड़ेगी। कौल ने यह स्वीकार किया इन क्षेत्रों में आवश्यक संख्या में अपने सैनिक न भेज सकने तथा हवाई अवपातन के द्वारा उनका पोषण न कर सकने, सड़कों के अभाव और जिन्हें हवाई अड्डा पर पर्याप्त सुविधाएं न होने, सेना, स्टोर तथा अन्य सामग्री के लिए उचित आश्रय-स्थान की कमी, सैनिकों के अभाव आदि कारणों से ही यह पहली पराजय सहनी पड़ेगी।

अन्त में कौल ने कहा "आज जो स्थिति है उसे देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि चीन हमारे किन्हीं चुने हुए इलाकों पर बड़े पैमाने पर आक्रमण करना चाहेंगे तो हम उन्हें किसी तरह नहीं रोक सकेंगे।"

जून १९६१ के मध्य तक भारतीय सेना ने लद्दाख में १५ चौकियाँ स्थापित कर दी थीं और इन सबको हवाई अवपातन के द्वारा सामान पहुँचाया जाता था। १० जून को लिखे गये एक पत्र में कौल ने प्रधान सेनापति को चेतावनी दी थी कि यदि उस महीने में वायु सेना ने ३६४ टन निर्माण सम्बन्धी स्टोर तथा अन्य सामग्री का अवपातन नहीं किया तो हमें इनमें से कुछ चौकियों को त्याग देने के लिए मजबूर होना पड़ेगा। पत्र में यह भी कहा गया था कि अनुमान के आधार पर यह निश्चित था कि वायु सेना इस सामग्री के एक-

तिहाई हिस्से का ही जून में अवपातन कर पायेगी और इसलिए हमें वक्ती तौर पर चार चौकियों को छोड़ देना पड़ेगा।

इस पूरे दौरान में इस बात का बहुत कम प्रमाण मिलता है कि भारतीय सेना ने चीनियों की रण शैली के आदी बनने या ऊँचे, दुर्गम स्थानों पर युद्ध करने के लिए आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त करने की दिशा में कोई विशेष प्रयत्न किये हों। न इस बात का प्रमाण मिलता है कि सेना ने गम्भीरतापूर्वक चीनियों की सामरिक नीति समझने और उसके लिए जवाबी सामरिक नीति बनाने की कोई खास कोशिश की हो। हमारी सेना की युद्धनीतिक विचार-धारा और सामरिक प्रशिक्षण बराबर ही पाक-अभिस्थापित ही रही।

यदि लोकतन्त्र में वाद-विवाद से सरकार चलायी जाती है तो उत्तरी सीमान्त पर चीन से सम्भावित खतरे के विषय पर हमारे रक्षा तथा विदेश मंत्रालयों में खूब बहसें हुई और उसकी तुलना मे काम बहुत कम हुआ।

सीधा, स्पष्ट तथ्य यह है कि सैनिक हेडक्वार्टर ने इस सत्य के प्रति आँखें मूँद ली थीं कि यदि हमारी सेना उत्तरी सीमान्त की रक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ है तो न केवल उस पर यह आरोप लगता है कि उसने अपना कर्तव्य पूरा नहीं किया बल्कि देश उस सीमान्त पर दावा करने का अधिकार खो देता है।

देश की सरहद की सुरक्षा के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि : "ऐसा करना असम्भव है।" जो असम्भव है उसे भी करना पड़ता है अन्यथा शत्रु को छूट होती है कि बिना खटके आक्रमण करे और हमारी भूमि पर मनचाही सीमा तक अतिक्रमण करे।

उस समय राजधानी में यह व्यापक दुस्थिति थी कि जबकि तुरन्त तथा महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर रक्षा मंत्री तथा प्रधान सेनापति के स्तर पर दुबारा बहसें होती थीं तो सम्बन्धित समस्याएँ फ़ाइलों में दब कर कहीं खो जाती थीं और संयोग से निकला हुई कोई मामूली-सा मसला महत्त्वपूर्ण रूप ले लेता था। उच्चतम स्तर पर लिए गये निश्चयों को कार्यान्वित करने में अक्सर महीनों ही क्या कई वर्ष तक लग जाते थे।

१

यह रहा दूसरा गाल

भारत के बारे में उसके अंग्रेज शासकों की एक अत्यन्त स्पष्ट, सुदृढ़ और अग्रदर्शी नीति थी और इस नीति का मूल उद्देश्य था कि भारत के सीमान्तों को कभी किसी प्रकार का खतरा न हो। युद्ध से पूर्व, यह नीति इस सिद्धान्त पर आधारित थी कि भारत के सीमान्तों के चारों ओर प्रतिरोधक राज्यों का एक व्यूह फैला दिया जाये और यह प्रतिरोधक राज्य ऐसे हों जो अंग्रेजी प्रभाव और प्रभुत्व को स्वीकार करते हों।

साम्राज्यवादी इंगलैण्ड उस काल का सबसे सशक्त देश था—उसकी एक टेढ़ी चितवन की ओर से भी अन्य कोई देश उदासीन नहीं हो सकता था फिर भी कहीं किसी प्रकार की कमजोरी छोड़ देने में वे विश्वास नहीं रखते थे और इसलिए उन्होंने अपने भारतीय उपनिवेश की प्रतिरक्षा के लिए अचूक प्रबन्ध कर रखा था। वास्तव में भारत के चारों ओर उन्होंने इतनी चौड़ी सुरक्षा-पेटी खड़ी कर दी थी कि पूर्व में उसका प्रतिरक्षा गढ़ सिंगापुर था और पश्चिम में अदन।

इस नीति के अन्तर्गत यह भी आवश्यक था कि भारत के उत्तर-पूर्वी सीमान्त पर तिब्बत का राज्य स्वतन्त्र और भारत के प्रति मैत्रीपूर्ण रहे और साथ ही उस पर अंग्रेजी प्रभाव भी हो। अतः, नाम के लिए तिब्बत पर चीनी प्रभुत्व स्वीकार करते हुए भी, अंग्रेजी सरकार ल्हासा की सरकार से सीधा सम्बन्ध रखती थी और, दबे रूप से, इस बात की हर मुमकिन कोशिश करती थी कि तिब्बत हमेशा एक स्वतन्त्र और स्वशासित देश रहे। यह सही है कि यह नीति उसी समय सफल हो सकती थी जब चीनी सरकार में इतनी शक्ति

नहीं थी कि वह अंग्रेजों का विरोध कर सके, यह भी स्पष्ट है कि आज समय बदल चुका है और अब यह नीति काम नहीं कर सकती।

उस काल में भारत तिब्बत सम्बन्धों के पीछे यह मूल प्रेरणा थी कि तिब्बत का बर्फीला पठार—जो भारत की सीमाओं को बिल्कुल छूता है—किसी हालत में भी किसी सम्भावित शत्रु—जार प्रशासित रूस, उसके बाद साम्यवादी रूस और बाद में जाग्रत चीन—के हाथ न लगे और इस बात के कई प्रमाण हैं कि इस सम्बन्ध में भारत के अंग्रेजी शासक बराबर सचेत और सतर्क रहते थे तथा इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए समय-समय पर योजनाएँ बनाई जाती थीं और कूटनीतिक कदम उठाये जाते थे। इनमें से एक कदम था भारत-तिब्बत की अनिश्चित सीमा को स्पष्ट और निश्चित रूप से तय करना।

भारत की अंग्रेजी सरकार और तिब्बत के आपसी सम्बन्धों में अंग्रेज बराबर इस धारणा पर काम कर रहे थे कि ल्हासा की सरकार जी-जान से यह चाहती है कि वे तिब्बत में रहें और तिब्बत में उनकी दिलचस्पी कायम रहे ताकि दोबारा चीनी प्रभुत्व स्थापित होने की सम्भावना ही पैदा न हो सके।

उनकी यह धारणा निश्चित रूप से सही थी क्योंकि सन् १९५० से १९५९ तक तिब्बत की सरकार भारत सरकार से यह धारणा करती रही कि वह क्रियात्मक रूप से उसकी सहायता करेगी चीनी आक्रमण और अधिकार से बचने के लिए।

सन् १९१४ में भारत कि अंग्रेजी सरकार ने यह फैसला किया कि भारत तथा तिब्बत और चीन तथा तिब्बत के बीच की] सीमाओं को स्पष्ट रूप से निश्चित कर देना चाहिए। (यह ध्यान देने योग्य बात है कि चीन और तिब्बत के बीच की सीमा निश्चित करने का ठेका अंग्रेजों ने अपने ऊपर ले लिया था।) इस उद्देश्य से शिमला में एक कॉन्फ्रेन्स हुई जिसमें तीनों सम्बन्धित देशों के प्रतिनिधि थे। इस कॉन्फ्रेंस ने भारत तिब्बत तथा तिब्बत-चीन के बीच की सीमाएँ निश्चित कर दीं और इस फैसले पर तीनों देशों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर कर दिये।

लेकिन बाद में चीनी सरकार ने इस समझौते को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया हालांकि उसका प्रतिनिधि इस समझौते पर हस्ताक्षर कर चुका था। चीनी सरकार की दलील यह थी कि वे तिब्बत और चीन के बीच के सीमांकन से सन्तुष्ट नहीं हैं। इससे यह तो स्पष्ट है ही कि भारत और तिब्बत के बीच की सीमा से तत्कालीन चीनी सरकार को कोई आपत्ति नहीं थी यद्यपि आज पेकिंग के शासक यही सिद्ध करने की कोशिश कर रहे हैं कि भारत तथा तिब्बत के बीच की सीमाएँ अवैध रूप से निर्धारित की गई हैं।

सन् १९१४ की इस शिमला कॉन्फ्रेंस में निश्चित भारत-तिब्बत सीमा को मैक्मॅहॉन रेखा कहा जाता है क्योंकि उक्त कॉन्फ्रेंस के सभापति, इंगलैण्ड के प्रतिनिधि, सर आर्थर मैक्मॅहॉन थे।

इस सीमा निर्धारण के बावजूद अगले तीस वर्ष तक भारत-तिब्बत सीमा को व्यावहारिक रूप से निश्चित करने के लिए कोई खास प्रयत्न नहीं किया गया। लेकिन सन् १९४३ में, जब अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति एक बार फिर भीषण रूप से अस्थिर अवस्था में थी, भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि झगड़े की सम्भावना को खत्म करने के लिए भारत, तिब्बत और चीन के बीच की सीमाओं को ठोस रूप से निर्धारित कर दिया जाये।

इस निश्चय के अन्तर्गत यह फैसला किया गया कि भारत-तिब्बत सीमा पर कुछ स्थानों पर स्थायी और पक्के रूप से कब्जा कर लिया जाये ताकि तिब्बत के लिए सीमा लाँघना असम्भव हो जाये (जैसा कि वे नेफ़ा प्रदेश में कुछ समय से रह-रह कर रहे थे)। अतः, सन् १९४४ के आरम्भ में लोहित घाटी में वालोंग नामक स्थान पर एक चौकी बना दी गई तथा दो और चौकियाँ सियांग घाटी में रीगा और कार्को नामक स्थानों में स्थापित कर दी गईं। सी-ला उप-एजेन्सी में रूपा की स्थायी चौकी की सैनिक शक्ति बढ़ाकर एक प्लेटून कर दी गई। इसके अतिरिक्त, दिरांग जोंग में भी एक प्लेटून की शक्ति की एक स्थायी चौकी स्थापित कर दी गई।

सैनिक चौकियों की स्थापना के अलावा भारत सरकार ने राजनैतिक और सुधारवादी कार्यक्रमों के द्वारा सीमान्त के आस-पास की आदि जातियों में अपना प्रभाव फैलाने का भी प्रयत्न किया। पोलिटिकल एजेन्टों ने उन क्षेत्रों का दौरा किया, जिनमें तब तक बाहर के लोग पहुँचे ही नहीं थे और न मानचित्रों पर जिनका कोई निश्चित उल्लेख था। उन्होंने वहाँ के आपसी झगड़ों को तय किया और संक्रामक बीमारियों के समय डॉक्टरी मदद भी पहुँचायी।

भारत सरकार द्वारा स्थापित नई चौकियों के खिलाफ तिब्बत सरकार ने फौरन आपत्ति खड़ी की और यह निवेदन किया कि दोनों राज्यों के बीच सीमा सम्बन्धी समस्थिति (स्टेटस-को) कायम रखी जाये। इसके पीछे उनका तर्क यह था कि तिब्बत तथा भारत के बीच मैक्मॅहॉन रेखा से सम्बन्धित झगड़ों से चीनी सरकार फायदा उठा सकती है।

भारत की अंग्रेजी सरकार ने निश्चित रूप से तिब्बत की आपत्तियों को रद्द कर दिया और यह स्पष्टतः प्रगट कर दिया कि सीमान्त पर सैनिक चौकियाँ स्थापित करने का उन्हें पूरा अधिकार है। इसके अलावा २९ दिसम्बर, सन् १९४४ को, भारत सरकार ने ल्हासा सरकार को लिखा कि मैक्मॅहॉन रेखा के दक्षिण क्षेत्रों में उन्हें (भारत सरकार को) पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वे जो

चाहे करें—हाँ, यदि ऐसे सीमा पर उन्होंने कोई कदम उठाया तो वे इसकी सूचना तिब्बत सरकार को अवश्य देंगे। साथ ही इस बात से इन्कार किया गया कि तिब्बत के प्रति उनके कोई खतरनाक इरादे हैं, उन्हें विश्वास दिलाया गया कि भारत सरकार हमेशा हर सम्भव सहायता के लिए तैयार है।

भारत सरकार के इस पत्र की प्रतिक्रिया तिब्बत के शासकों पर बड़ी तीव्रता से हुई। ल्हासा की राष्ट्र-सभा ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें इस बात पर शोक और असंतोष प्रगट किया गया कि भारत सरकार ने अवैध रूप से तिब्बत के कुछ हिस्सों पर अधिकार प्राप्त कर लिया है और इस बात की माँग की गई कि त्सेन्ना और वालाग क्षेत्रों से भारतीय सेनाएँ फौरन हटा ली जायें।

हालांकि इस ओर से उस समय भारत पर आक्रमण होने की कोई सम्भावना नहीं थी फिर भी भारतीय सेना के हाई कमाण्ड का यह निश्चित मत था कि भारत को अपने पूरे प्राकृतिक तथा युद्ध नीति के अनुसार मार्ग के सीमान्त पर नियन्त्रण रखने का अधिकार काम में लाना चाहिए क्योंकि इससे उत्तर-पूर्वी भारत की प्रतिरक्षा और भी ठोस होगी।

सैनिक हाई कमाण्ड की राय थी कि भविष्य के किसी भी युद्ध में उत्तर और उत्तर-पूर्व से हवाई आक्रमण की सम्भावना हो सकती है और इसलिए भारत को अपने इस सीमान्त पर आगे से आगे सैनिक चौकियाँ स्थापित करने का अधिकार हाथ में रखना चाहिए ताकि इन सम्भावित हवाई आक्रमणों की चेतावनी काफी पहले से मिल सके।

सन् १९४५-४६ में भी भारतीय सेना के उच्चतम अधिकारियों का यह मत था कि तिब्बत पर किसी भी शत्रुता प्रवृत्त बड़े देश का अधिकार भारत की प्रतिरक्षा के लिए खतरनाक होगा। इसलिए तत्कालीन भारत सरकार की यह मूल नीति थी कि तिब्बत से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखे जायें और उसका स्वशासन किसी भी उपाय से कायम रखा जाये। इस नीति के अन्तर्गत भारत की ओर से तिब्बत को किसी भी सैनिक सहायता का प्राथमिक उद्देश्य यह था कि वह किसी भी शत्रु-शक्ति को ऐसे क्षेत्रों में अधिकार जमाने से रोके जहाँ से भारत की सुरक्षा को खतरा पहुँचने की आशंका हो। व्यावहारिक रूप से इसका अर्थ यह था कि शत्रु देश को तिब्बत के उन इलाकों पर कब्जा करने से रोका जाये जहाँ से भारत पर हवाई आक्रमण करना या रॉकेट मिसाइल छोड़ना सम्भव है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि लेफ्टिनेंट जनरल सर फ्रान्सिस टुकर ने, जिन्होंने कई वर्षों तक भारतीय सेना में काम किया था और स्वतन्त्र भारत में पूर्वी कमाण्ड के सेनापति के पद से अवकाश ग्रहण किया

था। भारत की प्रतिरक्षा नीति के बारे में इसी बात पर जोर दिया है। 'व्हाइल मेमरी सर्वस' नामक अपने संस्मरणों में उन्होंने लिखा है :

"शत्रु के दृष्टिकोण से देखते हुए, अब से कुछ वर्षों के बाद तिब्बत ही वह प्रदेश होगा जहाँ से पूर्वी भारत को हवाई आक्रमणों का निशाना बनाना सम्भव होगा। तिब्बत के वह प्रदेश जो दूरस्थ इलाकों की बमबारी के लिए उपयुक्त हैं ऐसे प्रदेश है जहाँ से हवाई आक्रमणकारियों के दस्तों को आगे बढ़ाया जा सकता है और इस प्रकार यू० पी०, बिहार और बंगाल पर हवाई आक्रमण और कब्जा करना सुविधाजनक हो सकता है। इसलिए भारत का हित इस बात में है कि वह किसी भी तरीके से तिब्बत के पठार पर चीन का अधिकार न होने दे। और इसको रोकने का एक तरीका यह है कि वह पहले से उस पठार के चुने हुए हिस्सों पर अधिकार कर ले।"

भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद और उसके साथ ही चीन के द्वारा तिब्बत की 'राजनैतिक मुक्ति' की सम्भावनाएँ स्पष्टतर होने के कारण नई दिल्ली में काफी सरगर्मी पैदा हो गई। मूलतः इस सरगर्मी के पीछे यह भय था कि पूरी फैली हुई हिमालय पर्वतमाला में बिखरे हुए अनगिनत दर्रों से कितने ही साम्यवादी तिब्बत से भारत में घुस सकते है।

इसको रोकने का एक उपाय था और वह था ल्हासा की सरकार को शक्तिशाली बनाना और इसके लिए आवश्यक था, (१) ल्हासा में भारतीय सैनिक मिशन की स्थापना, (२) ग्यान्तसे में स्थित भारतीय सैनिक दस्ते की शक्ति को एक कम्पनी से बढ़ाकर एक बटालियन कर देना; (३) तिब्बत को अस्त्र-शस्त्रों की सहायता देना; (४) ग्यान्तसे-गंगटोक मार्ग को ठीक करना; (५) तिब्बती सेना को भारत में प्रशिक्षण देना, और (६) प्रमुख तिब्बती परिवारों को भारत में शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ देना।

देश की सुरक्षा को कोई खतरा न हो इसके लिए यह भी प्रस्तावित किया गया कि चुम्बी घाटी पर भी, जो भारत के उत्तर-पूर्वी सीमान्त मे कटार की तरह धँसी हुई है, अधिकार कर लिया जाये।

भारत सरकार ने राजनैतिक कारणों से ल्हासा में सैनिक मिशन स्थापित करने का प्रस्ताव रद्द कर दिया। तिब्बत को अस्त्र-शस्त्रों की सहायता देने की बात से भी भारत सरकार झिझकी और ग्यान्तसे में अपनी चौकी की सैनिक शक्ति बढ़ाने के प्रस्ताव को कार्यान्वित करने का साहस भी वह न बटोर पाई। यह सारी चीजें ऐसी थीं जिन्हें दलाइलामा की सरकार जी जान से चाहती थी।

दिया जिसके अनुसार कोरिया में चीन की लोकतंत्र सरकार को आक्रमणकारी ठहराया जा रहा था।

उसी वक्त, सितम्बर ५१ में जब सन फ्रांसिसको में ४६ राष्ट्र जापान के साथ शान्ति-संधि करने के लिए एकत्र हुए थे तो भारत ने उसमें शामिल होने से इनकार कर दिया था क्योंकि और कारणों के अलावा चीन की लोकतंत्र सरकार को उसके लिए आमन्त्रित नहीं किया गया था। नवम्बर सन् १९५१ की संयुक्त राष्ट्र की बैठक में भारत ने इस बात पर फिर जोर दिया कि चीन का प्रतिनिधित्व उसकी नयी लोकतंत्र सरकार ही करे। उसके बाद सन् '५८ तक, लगातार साल भारतीय प्रतिनिधि मंडल बड़ी मुस्तैदी से यही राग अलापता रहा।

मई, सन् १९५३ में श्री नेहरू ने स्पष्ट रूप से इस बात की घोषणा की कि कोरिया के बारे में भारत ने जो प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र में रखा है वह पूरी तरह कोरियाई युद्ध के बंदियों के मामले में लाल चीन के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। यह प्रस्ताव बहुत बड़े बहुमत से स्वीकार किया गया। और जब जून में इन कैदियों के विनिमय के लिए तटस्थ राष्ट्रों का एक कमीशन नियुक्त किया गया तो भारत ने उसका सभापतित्व स्वीकार कर लिया।

दिसम्बर, १९५३ में भारत सरकार ने तिब्बत और भारत के सम्बन्धों के बारे में पेकिंग में एक वार्ताक्रम शुरू किया। यह कदम भारत सरकार ने इस आशा और उद्देश्य से उठाया था कि सैकड़ों वर्ष पुरानी समस्याएँ सुलझ जाएँगी और चीन तथा भारत के बीच मैत्री और सहकारिता के सम्बन्ध दृढ़तर हो जाएँगे।

जब किसी दूसरे देश ने संयुक्त राष्ट्र में तिब्बत के सम्बन्ध में मानवी अधिकारों का सवाल उठाया तो श्री कृष्ण मेनन ने उसके उत्तर में यह दलील पेश की कि चूँकि पेकिंग की सरकार संयुक्त राष्ट्र की सदस्य नहीं है इसलिए तिब्बत में मानवी अधिकारों को कुचलने के लिए संयुक्त राष्ट्र उसे दोषी नहीं ठहरा सकता। श्री मेनन ने यह नहीं सोचा कि तिब्बत के मामले में संयुक्त राष्ट्र के इस प्रस्ताव से 'शांति का पथ और भी दृढ़ हो सकता है।' भारत सरकार का यह रुख था कि चीन या तिब्बत से सम्बन्धी मामलों में दखल देने की उनकी कोई इच्छा नहीं है और यह कि उक्त समस्या अब शीत-युद्ध के कुहास में ढँक गयी है।

तथ्यों को देखते हुए यही नतीजा निकलता है कि चीन की लोकतंत्र सरकार की मित्रता और उसका सहयोग प्राप्त करने में भारत पूरी तरह असफल रहा—लाल चीन पूर्ण निर्ममता और निश्चय के साथ अपने इस पूर्वनिश्चित कार्यक्रम को पूरा करने में लगा रहा कि भारत को हानि पहुँचाकर भी तीनों

देशों की सीमाओं को 'ठीक तरह से' निर्धारित करे। लेकिन अगले कुछ वर्षों तक, कोरियाई युद्ध में पहुँची हुई क्षतियों को हमवार करने के लिए, चीन के हित में यही था कि अपने सींग न दिखाये और शांति का नकाब पहिने रहे। इसलिए सांप की फुफकार को दबाकर उसने शांति के कबूतर की तरह गुटुरगूँ करना शुरू कर दिया।

२९ अप्रैल, १९५४, को चीन और भारत ने सुप्रसिद्ध पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर किये—यह समझौता भारत और तिब्बत के बीच व्यावसायिक और आवागमन की सुविधाओं के बारे में था। इसके बाद नयी दिल्ली ने हर मामले में तिब्बत की ओर से हाथ खींच लिया।

जो भूमि सम्बन्धी अधिकार और सुविधाएँ स्वतन्त्र भारत की सरकार को अंग्रेजों से विरासत के रूप मे मिली थीं उन्हें नयी दिल्ली ने त्याग दिया और यह स्वीकार कर लिया कि तिब्बत चीन का अंग है। पंचशील समझौते में केवल व्यावसायिक ऐजेन्सियों का, बाजारों का और यात्रियों की सुविधा के लिए मार्गों का उल्लेख था और आपसी सीमा के आर-पार व्यवसाय तथा आवागमन के नियम निर्धारित किये गये थे।

यही नहीं, नयी दिल्ली ने यह भी स्वीकार कर लिया था कि वह यातुंग और ग्यांत्से से अपने सैनिक दस्तों को हटा लेगी और तिब्बत में स्थित अपनी डाक, तार और टेलीफोन की चौकियों तथा डाक-बंगलों को चीनी सरकार को सौंप देगी।

इस समझौते के अन्तर्गत २९ अक्तूबर, १९५४, को यातुंग और ग्यांत्से में स्थित भारतीय सैनिक दस्तों को वापस बुला लिया गया।

भारत की सहृदयता के उत्तर में चीन ने उन पाँच सिद्धांतों को स्वीकार किया जिनका उल्लेख पंचशील समझौते में था। यह पांच सिद्धांत थे: (१) एक-दूसरे के प्रादेशिक संगठन और राज्यसत्ता को मान्यता देना, (२) एक-दूसरे पर आक्रमण न करना, (३) एक-दूसरे के अन्दरूनी मामलों में दखल न देना, (४) साम्य और एक-दूसरे के लाभ का ख्याल रखना और (५) शांतिपूर्ण सहअस्तित्व।

सन् १९५५ के बान्दुग सम्मेलन में श्री नेहरू अपने चहेते चाउ इन-लाई को अपने साथ लाये और अफ्रीकी तथा एशियाई नेताओं से उन्होंने उनका परिचय कराया। भारत और चीन का प्रेमालाप इस समय पूरे जोर-शोर से चल रहा था।

लेकिन इसके बावजूद सचाई यह थी कि भारत के सामने, उसके उत्तर-पूर्वी सीमान्त पर, एक ऐसी नयी और खतरनाक परिस्थिति मुँह बाये खड़ी थी जिससे शक्तिशाली अंग्रेज साम्राज्यवादी भी डरते थे और जिसे रोकने के लिए वे एक शताब्दी से कड़ा प्रयत्न कर रहे थे।

भारत और चीन के बीच का प्रतिरोधक क्षेत्र खत्म हो चुका था और अपने सीमान्त पर भारत का सीधा सम्पर्क एक अत्यन्त शक्तिशाली, अनिश्चित नीति के, आक्रमण प्रवृत्त पड़ोसी से था। सैनिक तथा राजनैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तिब्बत का पठार अब एक ऐसे सम्भावित शत्रु के हाथ में था जिसने पड़ोसी देशों के बारे में अपनी नियत को बिल्कुल छिपाकर नहीं रखा था।

जिस दिन से चीनी साम्यवादियों ने पेकिंग में शासन की बागडोर सम्भाली थी उसी दिन से उनके विचारों और उनकी नीतियों के दो मुख्य उद्देश्य थे (१) एक स्वतन्त्र और महान शक्ति का ओहदा हासिल करना, और (२) राज्य की सीमाएँ ताइवान और तिब्बत तक फैला देना। अमरीका के सशक्त सैनिक प्रतिरक्षण के कारण ताइवान पर विजय प्राप्त करना तो इतना आसान नहीं था लेकिन तिब्बत को आसानी से हड़प लिया जा सकता था।

चीन के द्वारा तिब्बत पर अपना अधिकार जताने और जमाने में उनका यह निश्चय भी मूलतः शामिल था कि वे तिब्बत और भारत के बीच की सीमाओं को 'सुधारना' चाहते थे।

यह उद्देश्य तभी पूर्ण हो सकते थे जब चीन सैनिक दृष्टि से सम्पन्न सशक्त हो जाए। पेकिंग की लाल सरकार आरम्भ से इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपनी सारी शक्ति लगा रही थी।

'बन्दूक की नली से शक्ति पैदा होती है' चीनियों के महान पैगम्बर माओ-त्से-तुंग ने कहा था। और माओ का यह विश्वास था कि, 'युद्ध संघर्ष का सबसे उच्च रूप है केवल इसी के द्वारा, विकास के किसी स्तर पर, वर्गों, राष्ट्रों, राज्यों और राजनैतिक दलों के बीच के भेद और विरोध खत्म किये जा सकते हैं।'

इसलिए अपना पूरा जोर लगाकर पेकिंग ने विश्व की सबसे विशाल सेना संगठित की और सारे राष्ट्र को पीसकर, उसकी बलि चढ़ाकर सारी वैज्ञानिक प्रतिभा तथा आर्थिक साधन अणुशक्ति को विकसित करने में लगा दिए।

इस नंगी शक्ति-पूजा और निर्मम कूटनीति के मुकाबिले में था श्री नेहरू का सरल, पुस्तक-सहज आदर्शवाद और 'सत्यमेव जयते' में अडिग विश्वास—एक ऐसा राजनैतिक दर्शन जो युद्ध को असभ्य मानता था और वर्तमान अणु-युग में युद्ध को एक बेकार, दकियानूसी चीज़ समझता था।

इस अव्यावहारिक दृष्टिकोण का एक ठेठ उदाहरण है श्री नेहरू का वह वक्तव्य जो उन्होंने भारतीय और चीनी अधिकारियों के प्रतिनिधि मंडल को

रिपोर्ट पर वार्त्ता करते हुए दिया था। श्री नेहरू ने कहा था :

"केवल यही बात कि हम बिना झुके या पीछे हटे एक सही दृष्टिकोण पर अटल है, हमारी शक्ति प्रदर्शित करता है और इससे कुछ निश्चित तथा स्थायी फल अवश्य पैदा होते हैं। आज भले ही यह असम्भव लगे लेकिन मैं हमेशा यह सम्भव समझता हूँ कि हमारे दृष्टिकोण के औचित्य का और उस पर अटल रहने में प्रदर्शित हमारी शक्ति का एक न एक दिन चीनी सरकार पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा। और यदि ऐसा है तो मैं निरन्तर और पूरे जतन से इस बात की कोशिश करूँगा कि वे सत्य के प्रति हमारे इस आग्रह की सराहना करें, उसे समझें और यह स्वीकार करें कि उन्होंने एक गलत काम किया है जिसे उन्हें अब बन्द कर देना चाहिए।"

क्या दृश्य था यह 'आध्यात्मिक शक्ति' और कुटिल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मुकाबले का! कैसी आत्म-प्रवंचना थी जो इस नंगे यथार्थ को देखने से इनकार करती थी कि राष्ट्रों का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप मूलतः निर्धारित होता है आत्म-लाभ और आत्म-प्रतिष्ठा की अदमनीय आकांक्षाओं से और इसलिए इन राष्ट्रों के दिल इस्पात के बने हैं और उन्हें 'आध्यात्मिक शक्ति' तथा उचित-अनुचित के नैतिक मानदण्डों से बदला नहीं जा सकता।

यह बात बड़ी आसानी से मान ली जानेवाली है कि 'जिसकी लाठी उसी की भैंस' की नीति, जिस पर अंग्रेजी साम्राज्यवादियों ने १९ वीं सदी के उत्तरार्ध और २० वीं सदी पूर्वार्ध में व्यवहार किया था, द्वितीय महायुद्ध के बाद के युग से काम में नहीं लायी जा सकती थी और यह कि सन् '५० या ५९' में भारत इस स्थिति में नहीं था कि तिब्बत में चीन के आक्रमणशील अतिक्रमण को रोक सकता।

जनतंत्रात्मक भारत सैनिक होड़ में चीन की उस साम्यवादी तानाशाही से कभी नहीं जीत सकता था जो घी-दूध के स्थान पर बन्दूकों को प्राथमिकता देती थी और जिसने पूरे राष्ट्र को एक सुसंगठित चौकी बना दिया था।

विश्वस्त सूत्रों से यह पता चला है कि चीन ने अपने सीमान्त के पास के सारे हिमालय प्रदेश को सैनिक रूप से सुसज्ज कर दिया है। सन् १९६२ तक विस्तृत सीमान्त पर लाखों चीनी सैनिक पूरी सैनिक तैयारी के साथ जुटा दिये गये थे। पूरा दक्षिणी तिब्बत एक विशाल छावनी में परिवर्तित कर दिया गया था। जिसका स्पष्ट, एकमात्र उद्देश्य यह था कि वहाँ से आगे के क्षेत्रों पर छापा मारना आसान हो जाता है—इसके अलावा ऐसा करने में चीनियों की कोई नियत हो ही नहीं सकती थी क्योंकि न तो इतनी जबरदस्त तैयारियाँ

तिब्बत को अपने अधिकार में रखने के लिए आवश्यक थीं और न दक्षिण से आक्रमण की कोई सम्भावना थी।

जबरदस्त मात्रा में जान और माल व्यय करके चीनियों ने इस दुर्गम इलाके में मार्ग वे सैनिक मार्गों का निर्माण किया और इनमें से बहुत सी सड़क ऐसी है जिन्हें कहीं से कहीं सर्दी में इस्तेमाल किया जा सकता है। उन्होंने हवाई अड्डों का भी निर्माण किया। दुर्गम से दुगम प्रदेश में साल भर काम करनेवाली अनेक सैनिक चौकियाँ स्थापित की गयीं और आवागमन के सूत्रों का जाल बिछा दिया गया।

अनुमान यह लगाया जाता है कि केवल तिब्बत में हो १४ डिविजनों में विभक्त लगभग दो लाख चीनी सैनिक हैं। यह भी सूचना मिली है कि चीनी बराबर अपने हवाई केन्द्रों का जाल फैलाते चले गये हैं—विशेषत ल्हासा और उसके आसपास के इलाकों में—और कई स्थान पर उन्होंने नये राडार भी लगा दिये हैं।*

भूमि, जल और हवाई सेनाओं में कुल मिलाकर चीन की लोक मुक्ति सेना में लगभग २५ लाख सक्रिय सैनिक हैं। भूमि सेना में डेढ़ सौ डिवीजन हैं और हर डिवीजन में १० से १२ हजार तक सैनिक हैं। चीनी भूमि-सेना की व्यवस्था सोवियत रूस की भूमि-सेना की तरह है।

इसके अलावा जन-सुरक्षा सेना में पाँच लाख से ऊपर सैनिक हैं जो सीमान्त प्रतिरक्षण तथा अन्दरूनी सुरक्षा के जिम्मेदार हैं। यही नहीं बल्कि एक अर्धसामरिक सैनिक सगठन भी है जिसके करोड़ो से ज्यादा सदस्य हैं। सन् १९५५ में अनिवार्य सैनिक सेवा कानून पास किया गया था जिसके अनुसार १८ वर्ष की आयु प्राप्त करने के बाद हर मर्द फौजी सेवा के लिए बाध्य है।

इसके मुकाबिले में भारत की स्थायी सेना (जल और हवाई सेना को छोड़कर) की संख्या लगभग दस लाख है और यह भी चीनी तथा पाकिस्तानी मोर्चों में विभक्त है।

ऐसी परिस्थिति में तिब्बत में दल-बल के साथ जमे हुए चीन से भारत अपने सीमान्त की रक्षा करने के लिए कर भी क्या सकता था?

पहली भयानक भूल तो यह थी कि लगभग शुरू से ही चीन के शत्रुता-पूर्ण इरादों का पता होने पर भी अपने प्रतिरक्षा संगठन को छिन्न-भिन्न होने देना और चीन द्वारा मैत्री तथा शांति के दावों में अंधविश्वास करना। यही एक भीषण भूल उन सारी तकलीफों की जड़ थी जो सन् १९५९ के बाद भारत के लिए पैदा हुई।

---

* १८ अगस्त १९६६ के 'न्यूयॉर्क टाईम्स' में हैरिसन सैलिसबरी के एक लेख के अनुसार।

'भाई-भाई' की सरल और निष्कपट मनोवृत्ति (जो हमारे अन्धविश्वा का परिणाम थी) के कारण भारत ग्यारह वर्ष की चेतावनी के बावजूद चीनी आतंक का मुकाबिला करने के लिए तैयार न हो सका।

यह कहा जा सकता है कि ऐसा नहीं था कि सन् १९५० तथा उसके बात तिब्बत में चीनी उपद्रवों से भारत को चेतावनी नहीं मिली—सारी गड़-बड़ इस बात से हुई कि श्री नेहरू ने पूरी तरह केवल कूटनीति पर—अपनी पसन्द की सत्यवादी नीति पर—ही विश्वास किया। चीन से सम्भावित खतरे का मुकाबिला करने के लिए और इसके लिए नीति के परम्परागत अस्त्र-सैनिक-शक्ति को रद्द कर दिया।

श्री नेहरू अपने इस आदर्शवाद में स्वयं बह गये थे कि आधुनिक युग में युद्ध की नीति—अस्त्र होना अनुचित है और उसकी जगह वैयक्तिक नीति तथा संयुक्त राष्ट्र के तत्त्वावधान में समझौते के साधनों का प्रयोग करना ही उचित है।

दो

नक्शेबाजी का दौर

कहानी दरअसल काफी पहले से शुरू होती है। उस समय भी बहुचर्चित और बहुप्रशंसित पंचशील समझौते पर—जिसमें दोनो देशो ने शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की कसम खायी थी और एक-दूसरे की प्रभुत्व सीमाओं तथा प्रादेशिक अखण्डता का आदर करने का दावा किया था—हस्ताक्षर किये जा रहे थे, पेकिंग ने इस बात के बारे में प्रारम्भिक कार्रवाई शुरू कर दी थी कि 'असमान क्षेत्र विभाजन को सुधार दिया जाये।' चीनी पाँव तले घास उगने के क़ायल नहीं थे।

चीनी कार्रवाई ने रूप लिया नक्शेबाजी के युद्ध का। उन्होंने जो मानचित्र बटवाये उनमें २,६०० मील लम्बे भारत तिब्बत सीमा से लगे हुए भारत भूमि के कई हिस्सा को चीन का अंग दिखाया गया था।

सन् १९५४ मे जब श्री नेहरू पेकिंग गये तो उन्होंने चाउ-इन-लाई का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। चाउ-इन-लाई ने श्री नेहरू को आश्वासन दिया कि यह नक्शे पिछली कुओमिनतांग सरकार के बनाये नक्शों की प्रतिलिपियाँ थीं जिन्हें ठीक करने का समय नयी सरकार को तब तक नहीं मिला था।

यही नहीं, चाउ इन-लाई ने श्री नेहरू की इस बात का समर्थन किया कि सीमा का मसला गौण है, कि जिन भूमि-खण्डो की स्थिति सन्देहात्मक है वे अधिकतर निर्जन प्रदेश हैं और इन पर किस देश का अधिकार है यह बात सहृदयता और समझौते से तय की जा सकती है।

लेकिन सन १९५९ में चीन ने जो नये नक्शे निकाले उनमें न केवल पुराने सन्देहात्मक स्थिति के क्षेत्रों को फिर से चीन का अंग बताया गया था

बल्कि इस बीच में लद्दाख प्रदेश में चीन ने भारत के जिन हिस्सों को हड़प लिया उन्हें भी चीन का ही अंग बताया गया था। उस वर्ष जब चाउ-इन-लाई भारत आये तो श्री नेहरू ने उनसे फिर इन गलत नक्शों के बारे में बात की।

चीनी प्रधान मंत्री ने कहा कि यद्यपि उन्हें अंग्रेजी साम्राज्यवादियों द्वारा चीन पर थोपी गयी मैक्‌महॉन रेखा के सीमा विभाजन से आपत्ति है फिर भी उन्होंने उसके अनुसार चीन और बर्मा के बीच की सीमा स्वीकार कर ली है और भारत के साथ भी उस रेखा के अनुसार सीमा विभाजन को स्वीकार करने का उनका इरादा है।

साथ ही चीनियों ने अपने ऊपर से दोष हटाने के लिए एक और तरीक़ा निकाल लिया—उन्होंने उल्टे भारत को यह दोष देना शुरू कर दिया कि उसने सीमान्त के पूर्वी भाग में 'ग़ैर क़ानूनी' मैक्‌महॉन रेखा के दक्षिण में स्थित चीनी प्रदेशों पर कब्ज़ा कर लिया है तथा मध्य और पश्चिमी भागों के चीनी इलाक़ों में भारतीयों ने प्रवेश कर लिया है।

चीनियों ने अपने गलत मानचित्रों को सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं किया और उन्हीं को प्रचलित रखा। यही नहीं बल्कि मानचित्रों मे भारत के जिन इलाक़ों को उन्होंने चीन का अंग बताया था उन्हें वास्तव में चीन का अंग बनाने के लिए उन्होंने सैनिक कार्रवाई भी शुरू कर दी।

पेकिंग सरकार को लिखे गये एक पत्र में श्री नेहरू ने इस बात पर आश्चर्य प्रगट किया कि यदि चीन को मैक्‌महॉन रेखा द्वारा निर्धारित सीमा विभाजन से कोई आपत्ति थी तो उन्होंने यह प्रश्न उस समय क्यों नहीं उठाया जब सन् १९५४ की संधि के बारे में बातचीत चल रही थी। इसके उत्तर में चाउ-इन-लाई ने मित्रता का नक़ाब उतार फेंका और स्पष्ट रूप से यह कहा कि सीमा की बात उस समय केवल इसलिए नहीं उठायी गयी थी कि उस समय तक सीमान्त का फैसला करने के लिए परिस्थिति 'परिपक्व नहीं थी।'

उसी पत्र में चाउ ने आग्रहपूर्वक यह भी कहा था, कि भारत-चीन की सीमा को कभी भी औपचारिक रूप से निर्धारित नहीं किया गया था और ऐतिहासिक रूप से चीन और भारत के बीच इस विषय पर कभी कोई संधि या समझौता नहीं हुआ था।

> "इसका सबसे निकटतम उदाहरण है चीनी सिंक्यांग का उइगुर स्वशासित प्रदेश जो हमेशा से चीन का अंग रहा है" चाउ ने ज़ोर देकर कहा था। "चीनी सरकार के सीमा प्रहरियों ने हमेशा से इस प्रदेशों में गश्त लगायी है और सन् १९५६ में निर्मित सिंक्यांग-तिब्बत मार्ग इस प्रदेश में से होकर गुज़रता है।"

उसी पत्र में यह स्वीकार किया गया था कि सन् १९५४ में भारत-तिब्बत सन्धि के समय सीमा का प्रश्न नहीं उठाया गया था, "और ऐसा इसलिए हुआ था कि उस समय सीमा समस्या का हल करने के लिए परिस्थितियाँ परिपक्व नहीं थी और चीन की सरकार को इस समस्या का पर्याप्त अध्ययन करने के लिए पर्याप्त समय नहीं मिला था।"

पत्र का अन्त सद्भाव के स्वर पर हुआ था। हालांकि चीन सरकार ने मैकमहोन रेखा को मान्यता देने से इन्कार कर दिया था फिर भी पत्र में लिखा था कि चीनी सरकार अब इस बात को आवश्यक समझती है कि मैकमहोन रेखा के प्रति किसी हद तक एक यथार्थवादी दृष्टिकोण रखे और वह इस सम्बन्ध में बुद्धिमानी से काम लेना चाहती है और इस समस्या को हल करने के लिए उसे समय चाहिए। हम यह भी विश्वास करते हैं कि भारत तथा चीन के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के कारण सीमा के इस भाग (मैकमहोन रेखा) के बारे में अन्ततः कोई मैत्रीपूर्ण समझौता होना अवश्य सम्भव होगा।'

१७ मार्च १९५९ को चीनियों द्वारा तिब्बती विद्रोह के दमन के बाद दलाई लामा अपने साथियों को लेकर ल्हासा से भाग खड़े हुए। ३१ मार्च की शाम को दलाई लामा तथा उनके साथियों ने तिब्बत की सीमा को पार करके नेफा के कामेंग फ्रन्टियर-डिवीजन के तोवांग सेक्टर में प्रवेश किया। उक्त फ्रन्टियर डिवीजन के उच्च सरकारी अधिकारियों ने दलाई लामा का स्वागत किया। भारत ने दलाई लामा को आश्रय दिया था और इस बात ने भारत-चीन सम्बन्धों में तीखापन पैदा कर दिया।

दलाई लामा को आश्रय देने और उनका हार्दिक स्वागत करने पर पेकिंग सरकार ने इस बात पर भी आपत्ति प्रकट की कि भारतीय समाचार-पत्रों और भारतीय जनता में ल्हासा में चीन की दमन कार्रवाइयों के खिलाफ तीव्र और विरोधी प्रतिक्रिया हुई है।

भारत सरकार ने उत्तर दिया कि भारत एक स्वतंत्र और जनतांत्रिक देश है जहाँ हर नागरिक को आजादी से अपने विचार प्रकट करने का अधिकार है। पेकिंग को भेजे गए उत्तर में भारत सरकार ने लिखा था, "चीन के विपरीत भारत में विभिन्न दलों को कानूनी रूप से मान्यता दी जाती है और विभिन्न विचारधाराओं की अभिव्यक्ति के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है।

चीन की सरकार ने भारत पर यह आरोप भी लगाया कि न केवल भारत ने सरकारी रूप से दलाई लामा का स्वागत किया था बल्कि समाचार-पत्रों के लिए उनके वक्तव्यों को लिखा और सम्वाददाताओं में बटवाया भी था।

उस समय यह बात बिल्कुल साफ थी कि भारत सरकार और भारतीय जनता दोनों तिब्बत में हुई अनुचित घटनाओं पर बिफर उठे थे और जनमत तीव्रता से चीन के खिलाफ हो गया था।

दलाई लामा ने इस भड़कती हुई आग में घृताहुति दे दी। २० जून, १९५९ को मसूरी में एक पत्र-सम्मेलन में उन्होंने यह घोषणा की कि तिब्बत एक स्वतन्त्र सत्ताधारी राज्य था जब उसने १९५० में चीन से सन्धि की थी और इस बात पर आग्रह किया कि यह सन्धि 'दो स्वतन्त्र सत्ताधारी राज्यों के बीच हुई थी।'

तिब्बत के देव-राजा ने चीन से आम्दो और खाम नामक इलाक़ों की, जिन्हें चीन बहुत पहले हड़प करके अपने राज्य में मिला चुका था, वापसी की माँग करके वृहत्तर तिब्बत बनाने का भी दावा किया। उन्होंने यह भी कहा, "हम और हमारे मंत्रीगण जहाँ भी हों, तिब्बत के लोग हमें ही अपना शासक स्वीकार करेंगे।" और उन्होंने भारत से निवेदन किया कि जो सहानुभूति और सहायता भारत ने अल्जीरिया तथा अन्य एफ्रो-एशियाई देशों को उनके स्वतंत्रता संघर्ष में दी थी, वही भारत को चाहिए कि तिब्बत को भी दे।

८ सितम्बर, १९५९ को श्री नेहरू को लिखे गये पत्र में चाउ इन-लाई ने पहली बार भारत के उन इलाक़ों पर खुल कर दावा किया जो अब तक सिर्फ़ चीनी मान-चित्रों में चीन का अंग बताये गये थे। इस इलाक़े का क्षेत्रफल लगभग ५०,००० वर्ग मील था जो इंगलैण्ड के बराबर है। इसके पहले चाउ इन-लाई ने बराबर यह कहा था कि यह मानचित्र कुओमिनतांग सरकार के बनाये हुए हैं और चीन की नयी सरकार द्वारा अधिकृत नहीं हैं।

उक्त पत्र में चाउ इन-लाई ने खुल्लमखुल्ला कहा कि "चीन की सरकार मैकमहॉन रेखा को क़तई स्वीकार नहीं करती।" उन्होंने यह भी कहा, "परमश्रेष्ठ ने अपने पत्र में चीन तथा सिक्किम के बीच की सीमा का भी ज़िक्र उठाया है। चीन और भूटान के बीच की सीमा की तरह इस सीमा का प्रश्न भी हमारी वर्तमान बातचीत का अंग नहीं है।" यूँ चीन ने भारत को यह चेतावनी भी दी कि वह इन दो पर्वतीय राज्यों के साथ भारत के विशेष सम्बन्धों को स्वीकार नहीं करता।

इस बीच चीन मान-चित्रों की बहस छोड़कर सक्रिय रूप से मैदानेजंग में उतर आया था। अत्यन्त सुनिश्चित और निर्मम ढंग से उसने सारे सम्बन्धों को तोड़कर गोली-बारूद से समस्याओं को हल करने का सिलसिला शुरू कर दिया था।

सन् १९५३ में तिब्बत-गढ़वाल सीमा को पार करके चीनियों ने भारत में घुसने का प्रयत्न किया था जिसके फलस्वरूप उत्तर प्रदेश सरकार ने गढ़वाल में नेलांग नामक अपनी चौकी को और भी सशक्त बनाया था।

जुलाई, १९५४ में—लगभग उस समय जब चीन तथा भारत ने पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर किए थे—चीन ने तिब्बत-उत्तर प्रदेश सीमा के अन्य

क्षत्र बाराहोती मे भारतीय सैनिकों की उपस्थिति के खिलाफ आपत्ति की थी। यह पहला मौका था जब चीन ने भारत को यह जताया था कि बाराहोती उसके राज्य का अंग है।

भारत सरकार की एक विज्ञप्ति ने इस बात को दबाने का प्रयत्न किया था और कहा था कि बाराहोती १६,००० फुट की ऊँचाई पर दो वर्गमील की जगह है जिसका प्रतिरक्षा या अन्य किसी दृष्टिकोण से कोई महत्त्व नहीं है। "भारत-तिब्बत सीमा पक्के तौर पर निर्धारित है। यह प्रश्न बिल्कुल मामूली सा है कि यह छोटा सा प्रदेश सीमान्त के उत्तर मे है या दक्षिण म।"

उससे अगले वर्ष जून म चीनी सेना ने बाराहोती मे छावनी डाली और सितम्बर, १९५५ मे वह नीती दर्रे से दक्षिण मे दस मील अन्दर तक घुस कर दमजान पहुँच गई।

सितम्बर, १९५६ मे हिमाचल प्रदेश-तिब्बत सीमा के शिपकी ला प्रदेश मे चीनी तथा भारतीय पुलिस दलों के बीच गोली चलने से तनाव और भी बढ़ गया। २४ सितम्बर के स्मारक-पत्र में भारत सरकार ने चीन को यह सूचना दी कि भारत के सीमान्त प्रतिरक्षण दल को यह आज्ञा दे दी गई है कि 'वे अपनी जगह से किसी हालत म भी न हटें और चीनी दस्ते को तिल भर भी आगे न बढने दें भले ही ऐसा करने के लिए उन्हें अस्त्र भी उठाने पड़ें। साथ ही भारत सरकार ने चीन को यह चेतावनी दी कि चीन यदि अपनी छिट-पुट छापामारी कारवाइयों को बन्द नही करता है तो "दोनों देशों की सीमा पर सशस्त्र झगड़े हो सकते हैं।" लेकिन चीनी अपनी हरकतों मे बाज नहीं आये और बाद मे भारत की खामोशी से यह सिद्ध हो गया कि भारत द्वारा चीन को दी गई चेतावनी मे कोई दम नही था।

प्रधान मन्त्री श्री नेहरू के कथनानुसार भारत के सीमान्त प्रदेशों म इक्के-दुक्के चीनी सैनिक दल "छोटे-मोटे छापे मारते रहे।" २८ अगस्त, १९५९ को श्री नेहरू ने लोक सभा मे कहा, "यह कोई अनहोनी बात नही है क्योंकि सीमा का कोई निश्चित विभाजन नही है और दूसरे देश के दल कभी-कभी सीमा को लाँघ सकते हैं। सन् १९५७-५८ मे हमने चीन की सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था और वे पीछे हट गये थे। वह बात वहीं खत्म हो गयी थी।"

अक्तूबर, १९५७ मे चीनियों ने पहली दफा नेफा के लोहित सीमान्त डिवीजन के वालोंग नामक स्थान मे प्रवेश किया था। सन् '५९ में दलाई लामा के भारत में आ जाने के बाद चीनियों ने नकाब उतार फेंका और सीमान्त के पश्चिमी तथा पूर्वी इलाकों (विशेषत कामेंग खड मे जहाँ से दलाई लामा भारत आये थे) म खुल कर और जोर-शोर से छापे मारने शुरू कर दिये।

साथ ही तिब्बती शरणार्थियों के भाग कर भारत में आने का फ़ायदा भी चीनियों ने पूरी तरह उठाया। शरणार्थियों के इन दलों के साथ दर्जनों चीनी जासूस भारत में घुस आये। यह गुप्तचर सूरत-शक्ल और व्यवहार में सीमान्त के भारतीय प्रदेशों के लोगों से इतने मिलते-जुलते थे कि उन्हें पहिचानना असम्भव था और इसलिए यह आसानी से पूरे आसाम और नेफ़ा में फैल गये। वे अधिकतर तिब्बती गड़रियों और मज़दूरों के वेष में आये थे और गोहाटी, डिब्रूगढ़ तथा सिल्चर के आस-पास बस गये थे। चीन का समर्थन करने वाले भारतीय साम्यवादियों की सहायता से इन्होंने इन इलाक़ों में एक विस्तृत जासूसी जाल बिछा दिया था।

बोमदी ला के उत्तर में चीनी आक्रमण से दो वर्ष पहले बनी हुई तोवांग तथा नेफ़ा के सैनिक और शासकीय केन्द्र तेजपुर के निकट मिसीमारी को मिलाने वाली नई सड़क के पास एक छोटे से गाँव में एक चीनी जासूस चाय का होटल चलाता रहा। बोमदी ला के दक्षिण में, चाकू नामक गाँव में एक चीनी जासूस अट्ठारह महीने तक बेतार से खबरें भेजता रहा और उसके बाद वह पकड़ा गया।

सन् '६२ के आक्रमण से पहले के कुछ महीनों में चीनी विमान २५ बार अवैध रूप से नेफ़ा के ऊपर उड़े। स्पष्ट है कि यह उड़ानें हवा से ही तस्वीरें खींचने और जानकारी प्राप्त करने के लिए की गयी थीं।

भारतीय प्रतिरक्षण दल ने बहुत पहले से स्थानीय अधिकारियों को यह सूचना दे दी थी कि उस प्रदेश में चीनियों का जासूसी जाल बढ़ता जा रहा है लेकिन उनको यह शिकायत थी कि अधिकारियों ने उनकी चेतावनी की ओर ध्यान नहीं दिया था।

जून में चीनी सरकार ने यह झूठा आरोप लगाया कि भारतीय सैनिकों ने तिब्बत-नेफ़ा सीमा पर मिगाईतुन के पास चीनी इलाक़े में प्रवेश किया है। उन्होंने यह भी आरोप लगाया कि हमारी सेनाओं ने तिब्बती विद्रोहियों के साथ मिल कर चीन की लोक सरकार के खिलाफ़ गैरकानूनी कार्रवाई की है।

दिल्ली सरकार ने इन आरोपों से इन्कार किया और इस बात पर आश्चर्य प्रगट किया कि चीन की सरकार ने ऐसी अफ़वाहों पर विश्वास किया है। भारतीय सैनिक दस्ता जिस स्थान पर था वहाँ से तनिक भी आगे नहीं बढ़ा था।

जुलाई में भारत सरकार ने पेकिंग से इस बात पर आपत्ति की कि चीनी तिब्बत में भारतीय अधिकारियों और भारतीय व्यापारियों तथा यात्रियों के रास्ते में कठिनाइयाँ पैदा कर रहे हैं।

२८ जुलाई को लद्दाख में तोकुंग-से और यूला-से से २० मील दक्षिण-पूर्व में चीनियों ने छः भारतीय सैनिकों के दस्ते को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें पहले

वे स्पांगुर में अपनी चौकी पर तथा बाद में हटा ले गये। अन्त में यह छः भारतीय सैनिक १८ अगस्त को स्पांगुर में छोड़ दिये गये।

अगस्त में चीनियों ने चुशुल के भारतीय हवाई अड्डे के पास की एक पहाड़ी पर एक पर्यवेक्षण चौकी स्थापित की। २७ अगस्त को स्पांगुर से २२ मील दक्षिण में रेझांग ला के पास चीन ने अपना ध्वज आरोहित किया। यह स्थान हमारी सीमाओं के तीन मील अन्दर था।

उसी महीने भारतीय सेना के पश्चिमी कमान ने यह सूचना दी कि दक्षिण लद्दाख के गादजाग नामक स्थान पर चीनी एक बटालियन से अधिक शक्ति में हैं और तिब्बत के ताशिगांग नामक स्थान को वहाँ से मिलाने के लिए तीन टन की एक सड़क बनाई जा रही है।

इसी बीच नेफा मोर्चे पर दो सौ सशस्त्र चीनियों के एक दस्ते ने ७ अगस्त को खिजमान के पास हमारी सीमा भंग की। वहाँ पर स्थित भारतीय टुकड़ी चीनियों से कहा कि वे पीछे हट जायें लेकिन इसके उत्तर में उन दो सौ सशस्त्र चीनियों ने हमारी बारह सैनिकों की टुकड़ी को ढोला साथा के पुल तक पीछे खदेड़ दिया। किसी तरफ के सैनिकों ने गोलियाँ नहीं चलाईं। कुछ समय बाद चीनी पीछे हट गये और हमारी टुकड़ी पुनः अपने स्थान पर वापस लौट आई।

लेकिन चीनी दस्ता कुछ दिनों बाद फिर वापस लौट आया और उसने माँग की कि हमारी टुकड़ी फौरन अपनी जगह से हट जाये और भारतीय ध्वज नीचे उतार दिया जाये। हमारे सैनिकों ने इन आदेशों को मानने से इन्कार कर दिया। श्री नेहरू ने लोक सभा को बताया कि चीनी दस्ते ने हमारी टुकड़ी को वहाँ से खदेड़ने का फिर प्रयत्न किया लेकिन हमारी टुकड़ी अपने स्थान पर अविचल रही और बाद में वहाँ अन्य कोई घटना नहीं हुई।

अगस्त के अन्त में चीनियों का एक ज्यादा बड़ा दस्ता मिगाईतुन के दक्षिण में, लागजू के पास सुबनसिरी सीमान्त डिवीजन में हमारे देश में घुस आया और गोलाबारी शुरू कर दी। २००-३०० चीनी सैनिकों के इस दल ने आसाम राइफल्स के बारह सैनिकों को घेर कर कैद कर लिया। इनमें से आठ सैनिक चीनियों के चंगुल से बच कर भाग निकले और लागजू में स्थित अपनी चौकी पर वापस लौट आये।

कुछ समय बाद चीनी फिर लौट कर आये और उन्होंने हमारी एक मुख्य चौकी को घेर लिया जिसकी शक्ति ३० सैनिकों की थी। काफी समय तक गोलाबारी चलती रही लेकिन अन्त में, विरोधियों के अत्यन्त सशक्त होने के कारण, हमारी टुकड़ी को लागजू से हटना पड़ा।

नियमों के अनुसार भारत सरकार ने लांगजू में हुई घटना के खिलाफ़ चीनी सरकार से आपत्ति प्रकट की। साथ ही, भारत सरकार ने नेफ़ा का इलाक़ा पूरी तरह से सेना के नियंत्रण में कर दिया।

सितम्बर तक चीनी लद्दाख क्षेत्र में और भी आगे बढ़ आये और उन्होंने चुशूल-रेज़ांग ला में अपनी एक कम्पनी, डिगशांद में एक कम्पनी तथा बटालियन हैड क्वार्टर और डंबोगुरु के ठीक दक्षिण में खुर्नाक-फ़ोर्ट-मण्डल में एक कम्पनी स्थापित की। कुछ ही दिनों में चीनियों ने अपनी चौकी स्पांग्गुर झील के उत्तरी तट से हटाकर, चुशुल से नौ मील पूर्व टूला नामक स्थान पर, जो स्पांग्गुर झील के दक्षिणी तट पर है, स्थापित कर दी।

इस घटना क्रम से यह स्पष्ट है कि तनाव बराबर बढ़ता जा रहा था और चीनी छलांगें मार-मार कर भारत भूमि पर बढ़ते आ रहे थे।

२० अक्तूबर तक चीनी सेना दक्षिणी लद्दाख की चांग चेनमो घाटी में चालीस मील अन्दर तक घँस आई थी। रास्ते में कोंगका दर्रे के पास भारतीय पुलिस दल ने उनका मुक़ाबला किया था लेकिन चीनियों ने ज़बरदस्त गोलाबारी की और नौ भारतीय सैनिक वीरगति को प्राप्त हुए। भारतीय दल के दस सैनिकों को गिरफ्तार भी कर लिया गया और उनके साथ बहुत बुरा व्यवहार किया गया। इनमें से करमसिंह नामक एक वीर अधिकारी भी थे जो इस दल के नेता थे।

इस घटना के बाद लद्दाख क्षेत्र की प्रतिरक्षा की जिम्मेदारी भी, पहली दफ़ा, पूर्णरूप से सेना को सौंप दी गई।

लेकिन इस सबके बावजूद, १६ नवम्बर को, नयी दिल्ली ने, जो अब तक एक शांतिपूर्ण समझौते की इच्छुक थी, प्रस्ताव रखा कि वक्ती तौर पर, लद्दाख क्षेत्र में, भारतीय सरकार चीन द्वारा निर्धारित सीमा तक अपनी सेनाएँ हटा ले और चीनी सेनाएँ उस सीमान्त के पीछे हट जायें जो परम्परागत रूप से भारतीय मानचित्रों में दिखाया जाता है। भारत सरकार का विचार यह था कि इस प्रकार दोनों दलों के बीच एक फ़ासला हो जाने से सीमान्त के यह झगड़े खत्म हो जायेंगे।

पेकिंग ने तुरन्त इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया। उल्टे अक्साई चिन क्षेत्र के पश्चिम तथा दक्षिण में चीनी सेनाएँ और भी आगे बढ़ आयीं और उन्होंने कई और नयी सड़कें बनाना शुरू कर दिया।

फ़रवरी, '६० में हमारे गुप्त सूचना विभाग ने यह सूचना दी कि चीनियों ने लानक-ला से कोंगका ला तक अपनी सड़क को इतना सुधार लिया है कि उस पर भारी गाड़ियों को चलाया जा सकता है और उत्तर में सिक्यांग-किजिजिलगां-

गिलगुंग को मिलाने वाली उनकी सड़क इस योग्य है कि उस पर अच्छे मौसम में हल्की गाड़ियाँ चलायी जा सकती हैं।

लेकिन अप्रैल में, एक हफ्ते के लिए, आपसी झगड़ों ने कूटनीतिक रूप ले लिया जब चाउ इन-लाई श्री नेहरू से बात करने के लिए नयी दिल्ली आये। लेकिन चाउ-नेहरू वार्ता का कोई फल नहीं निकला और चीनियों ने दोहरे उत्साह से भारत-तिब्बत सीमा पर फिर से पकड़ धकड़ का खेल शुरू कर दिया।

जून में, नेफा मोर्चे पर चीनी सैनिकों का एक बहुत बड़ा दस्ता भारत के पांच मील अन्दर, कामग सेक्टर के तोवांग प्रदेश में ल्हाखुग गोम्पा नामक गांव में (जहाँ एक मठ भी था) पहुंच गया। नयी दिल्ली ने फौरन इसके खिलाफ आपत्ति प्रगट की।

साथ ही भारत सरकार ने चीनी सरकार को यह भी बताया कि मार्च सन् १९६० में तब तक ५२ दफा भारतीय हवाई क्षेत्र को भंग किया था—यह विमान तिब्बत से उड़कर आते थे। दिसम्बर, १९५० और सितम्बर, १९६० के बीच चीनी विमानों ने १०२ दफा भारतीय हवाई क्षेत्र को भंग किया था।

सितम्बर, १९६०, में चीनियों ने एक नयी दिशा में कार्रवाई शुरू की—उस मास में पहली दफा एक सशस्त्र चीनी दस्ते ने जेलेप दर्रे के पास सिक्किम में प्रवेश किया।

अगले वर्ष एक भी ऐसा मास नहीं बीता जिसमें लद्दाख या नेफा क्षेत्रों में चीनियों ने उत्पात न मचाया हो या भारत भूमि का कुछ हिस्सा न हड़पा हो। इन घटनाओं के समय अब अधिकतर गोलाबारी भी होने लगी थी।

२४ फरवरी १९६१ को भारत सरकार ने सीमा की समस्या पर दोनों देशों के अधिकारियों की रिपोर्ट प्रकाशित की। विस्तृत प्रमाणों के आधार पर लिखी हुई इस रिपोर्ट ने यह स्पष्ट किया कि भारत-चीन के बीच की परम्परागत सीमाएँ वही थीं जो भारत अपने मानचित्रों में दिखाता रहा था और यह कि चीन ने अवैध रूप से भारत के लगभग ५०,००० वर्ग मील क्षेत्र पर दावा किया था।

काफी समय तक चीनी सरकार ने यह भी स्वीकार नहीं किया कि इस तरह की किसी रिपोर्ट का कोई अस्तित्व है। मई, १९६२ में उन्होंने इस रिपोर्ट के चीनी भाग को विकृत तथा संक्षिप्त रूप से प्रकाशित किया।

२० अप्रैल को एक चीनी दस्ता फिर जेलेप दर्रे के पास सिक्किम में घुस आया। मई में चीनी पश्चिमी विभाग में चुशुल के निकट भारतीय भूमि पर चढ़ आये। जुलाई में एक चीनी सशस्त्र दल सीमा पार करके नेफा के कामेंग सेक्टर में घुस आया और चेमोकार्पोला के पश्चिम में एक मील अन्दर तक पहुँच गया।

बीच जुलाई में मंगोलिया से लौटते हुए भारत के विदेश मंत्रालय के सेक्रेटरी जनरल, श्री आर० के० नेहरू, पेकिंग में रुके इस उद्देश्य से कि चीनी नेताओं से मिल कर यह पता लगायें कि दोनों देशों के अधिकारियों की रिपोर्ट के आधार पर आपसी समझौते की दिशा में कोई प्रगति की जा सकती है, या नहीं। चीनियों की ओर से उन्हें इस विषय पर कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला। उल्टे, अगले ही महीने चीनी दस्ते लद्दाख में और भीतर तक प्रवेश कर गये—उन्होंने ७८° १२' पू०, ३५° १९' उत्तर में, न्यागज़ू में और दंबूगुरु में तीन चौकियां स्थापित कीं और इन चौकियों को अपनी पीछे की छावनियों से मिलाने के लिए नयी सड़कें बनायीं।

सितम्बर में, चीनियों ने तीसरी बार जेलेप दर्रे के पास सिक्किम में प्रवेश किया।

भारत सरकार ने चीन की सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि उन्होंने कई बार सीमा भंग करके भारत में प्रवेश किया है, अनधिकृत रूप से भारत भूमि के काफ़ी बड़े हिस्से को कब्ज़े में कर रखा है, नयी सड़कें बनायीं हैं और सैनिक चौकियों को स्थापित किया है।

सन् १९६२ के आरम्भ होने के साथ २६०० मील लम्बी भारत-तिब्बत सीमा पर चीनियों के उत्पात और भी बढ़ गये।

जनवरी में चीनी अग्रिम दल लद्दाख में बिन्दु ७८° १२' पू०, ३५° १९' उ० की अपनी चौकी से बारह मील आगे बढ़ गया और नेफ़ा में चीन के शासकीय और सैनिक अधिकारियों ने लांगजू के पास भारतीय सीमा को पार किया और वे सुबनसिरि सीमान्त डिवीज़न के रॉय नामक गाँव में (जो भारत में आधा मील अन्दर था) पहुँच गये।

२२ फरवरी को भारत सरकार ने चीन की सरकार से लद्दाख क्षेत्र में चीनी अग्रिम दस्तों की कार्रवाई के खिलाफ़ शिकायत की। इसके कुछ बाद ही भारत ने चीन से फिर यह शिकायत की कि उन्होंने लद्दाख में सुम्दों से छः मील पश्चिम में एक सैनिक चौकी स्थापित की है।

लेकिन इन शिकायतों के बावजूद, अप्रैल और मई भर चीनी अग्रिम दस्ते लद्दाख के चिपचाप क्षेत्र में उत्पात मचाते रहे।

वास्तव में ३० अप्रैल को चीनी सरकार ने यह स्पष्ट घोषणा की कि उन्होंने काराकोरम दर्रे से कोंगका दर्रे तक पूरे प्रदेश में अपने सैनिक दस्तों को गश्त लगाने का आदेश दे दिया है और साथ ही उन्होंने यह भी माँग की कि भारत अपनी उन दो सैनिक चौकियों को हटा ले जो निश्चित रूप से भारतीय सीमा के अन्दर ही थीं। पेकिंग सरकार ने यह धमकी दी कि यदि भारत उसकी माँगों को स्वीकार नहीं करेगा तो वे सारे सीमान्त पर सैनिक गश्त लगाना फिर से शुरू कर देंगे।

इसके तीन दिन के बाद चीनी और पाकिस्तानी सरकारों ने इस आपसी समझौते की घोषणा की कि व भारत-चीन की सीमा के उस विभाग को, जो काराकोरम के पश्चिम में पाकिस्तान के अनधिकृत कब्जे में कश्मीर के सट के लगा हुआ है, निश्चित करके अपनी भूमि में मिला लेंगे। भारत सरकार ने चीन का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि जम्मू और कश्मीर के पूरे राज्य पर भारत का एकछत्र अधिकार है और कश्मीर की सीमा के किसी सड के बारे म पाकिस्तान से कोई भी समझौता न्याय की दृष्टि से निरर्थक होगा।

उसी मास मे, अर्थात् मई म, चीनियों ने लद्दाख मे, भारत के दस मील अन्दर, स्पागुर के दक्षिण-पूर्व मे एक नयी सैनिक चौकी स्थापित की।

भारत सरकार ने चौथी बार लद्दाख के विवाद क्षेत्र में चीनियों की सैनिक सरगर्मी के खिलाफ आपत्ति प्रगट की और अपने इस प्रस्ताव को दोहराया कि पश्चिमी मोर्चे पर भारतीय सेनाएँ उस सीमा के पीछे हट जायें जिसका चीन दावा करता है और चीनी सेनाएँ भारत की परम्परागत सीमा के पीछे हट जायें। शान्तिपूर्ण समझौते के हक में भारत ने यह भी मानना स्वीकार कर लिया कि असैनिक यातायात के लिए चीनी अक्साई सड़क को इस्तमाल करें।

उसी महीने मे दूसरी बार और यूँ पाँचवी बार, स्पागुर के निकट चीनियों के द्वारा एक नयी सैनिक चौकी स्थापित करने के खिलाफ भारत को फिर शिकायत करनी पड़ी।

२ जून को चीन और भारत के बीच १९५४ के पंचशील समझौते की अवधि खत्म हो गयी—यूँ भी वह हमेशा ही व्यावहारिक रूप से निरर्थक रही थी। चीन की सरकार ने उसे बार-बार भग किया था तिब्बत म भारतीय यात्रियो, व्यापारियों तथा अन्य भारतीय नागरिकों को सता कर और भारतीय भूमि पर रह-रह कर छापे मार कर।

लद्दाख मे नयी सैनिक चौकियाँ स्थापित करने और नयी सड़कें बनाने के खिलाफ अगले दो महीनों मे भारत ने चार दफा और आपत्ति प्रगट की। इस प्रकार सन् '६२ के पहले सात महीनो मे नयी दिल्ली को नौ दफ़ा पेकिंग से शिकायतें करनी पड़ी थीं।

३

समस्या की जड़

सन् १९५५ के शुरू में ही चीनियों ने लद्दाख के अक्साई चिन इलाके में (जो भारत का अंग है) एक सड़क बनानी आरम्भ कर दी थी। यह सड़क मध्य एशिया में चीन के सिक्यांग प्रान्त और तिब्बत के बीच एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध थी।

चीनियों की इस कार्रवाई की सूचना सबसे पहले पेकिंग में स्थित भारतीय सैनिक सहचारी ब्रिगेडियर एस० एस० मलिक ने नवम्बर, १९५५ में अपनी एक रिपोर्ट के द्वारा भारत सरकार को दी थी। नयी दिल्ली में इस सूचना की ओर उस समय कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

पाँच महीने बाद, ब्रिगेडियर मलिक ने एक विशेष रिपोर्ट द्वारा फिर से, आग्रहपूर्वक, अक्साई चिन में बनने वाली इस सड़क की ओर ध्यान आकर्षित किया। ब्रिगेडियर मलिक के कथनानुसार तत्कालीन भारतीय राजदूत, श्री आर० के० नेहरू ने उनकी इस रिपोर्ट को भारतीय विदेश मंत्रालय को भेजने में आनाकानी की इसलिए कि कहीं भारतीय प्रधान मंत्री ऐसा करना अनुचित न समझें।

काफ़ी दबाव डालने के बाद भारतीय राजदूत इस बात पर राजी हुए कि ब्रिगेडियर मलिक की रिपोर्ट को विदेश मंत्रालय के चीन विभाग के डायरेक्टर को भेज दिया जाये। साथ ही ब्रिगेडियर मलिक ने अपनी रिपोर्ट की एक प्रतिलिपि सैनिक हेडक्वार्टर को भी भेज दी। इसके बाद क्या था!—नयी दिल्ली और पेकिंग में भारतीय दूतावास के बीच तेज़ी से तार दौड़ने लगे।

सन् १९५७ के अन्त में जब चीनियों ने अक्साई चिन से होकर गुज़रने-वाली इस सड़क को पूरा कर लिया तो उन्होंने इस मार्ग के आरम्भोत्सव में

शामिल होने के लिए भारतीय राजदूत और उनके सैनिक सहचारी को आमन्त्रित भी किया। चीनियों की चाल यह थी कि भारतीय दूतावास के सदस्यों के इस उत्सव पर उपस्थित होने से यह सिद्ध हो जायेगा कि भारत ने अपनी भूमि पर बने उनके इस मार्ग का अस्तित्व स्वीकार कर लिया है। लेकिन भारतीय राजदूत तथा उनके सैनिक सहचारी ने इस उत्सव में शामिल होने से इन्कार कर दिया।

सन् १९५६ में, जनरल जे० एन० चौधरी के नेतृत्व में एक भारतीय सैनिक प्रतिनिधि मंडल चीन गया। प्रतिनिधि मंडल के सदस्यों को अत्यन्त नियन्त्रित रूप से देश में घुमाया गया।

लेकिन जनरल चौधरी ने चीन की मिग-१७ विमान उत्पादन फैक्ट्री देखने की विशेष इच्छा प्रगट की। चीनियों ने बड़े संकोच के साथ भारतीय प्रतिनिधि मंडल को यह फैक्ट्री दिखाना स्वीकार किया और वह भी इस शर्त पर कि प्रतिनिधि मंडल का कोई भी सदस्य भारत लौटने पर भारतीय नौ-सेना के अंग्रेज सेनापति को इस फैक्ट्री के बारे में कुछ न बतायें। इसके विपरीत जब चीनी सैनिक प्रतिनिधि मंडल सन् '५८ में भारत आया तो उनके उदार हृदय भारतीय मेजबानों ने उनसे कोई रहस्य छिपा कर नहीं रखा—मेहमानों की जोरदार खातिर की गयी और उन्हें देश के महत्त्वपूर्ण सैनिक प्रतिष्ठानों का दौरा कराया गया।

अक्साई चिन में हमारी भूमि पर बनी हुई चीनी सड़क के बारे में श्री नेहरू ने सरकारी तौर पर पहली सूचना २८ अगस्त, १९५९ में दी जबकि भारतीय समाचार पत्रों में बहुत पहले से इस सम्बन्ध में रिपोर्टें छप रही थीं। और उस समय भी यह बात प्रधान मन्त्री के मुँह से एक प्रकार से निकाली ही गयी क्योंकि लोक सभा में लद्दाख में चीनी उत्पातों के बारे में प्रश्नों की बौछार-सी लग गयी थी।

लोक सभासद, श्री एन० जी० गोरे ने पूछा था कि क्या यह सही है कि चीनियों ने गर्तोक और यारकन्द के बीच ऐसी सड़क बनायी है जो लद्दाख से होकर गुजरती है और क्या यह सड़क एक वर्ष या उससे भी अधिक समय से बनी हुई है।

सड़क के अस्तित्व की बात स्वीकार करते हुए प्रधान मन्त्री ने उत्तर दिया था "अब से एक या दो वर्ष पहले चीनियों ने गर्तोक से यारकन्द (चीनी तुर्किस्तान) तक एक सड़क बनायी थी, यह भी रिपोर्ट थी कि यह सड़क हमारे उत्तर-पूर्वी लद्दाखी इलाके के एक कोने से होकर गुजरती है। मेरे ख्याल से यह सभा इस बात को मानेगी कि यह इलाके अत्यन्त दूरस्थ और

दुर्गम है, वहाँ पहुँचना भी लगभग असम्भव है और यदि पहुँचने का प्रयत्न भी किया जाये तो कई हफ़्ते लग सकते हैं।

"इस सिलसिले में हमारा एक प्रारम्भिक सर्वेक्षक दल वहाँ भेजा गया था। मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि कब लेकिन मेरे ख्याल से यह दल एक साल से भी पहले भेजा गया था—शायद पिछले साल। वास्तव में दो दल भेजे गये थे—इनमें से एक दल वापिस लौट आया था, दूसरा नहीं लौटा था।"

"जो दल नहीं लौटा वह क्यों ?" एक सदस्य ने प्रश्न किया।

"हमने दो-तीन हफ़्ते इन्तज़ार किया," प्रधान मंत्री ने कहा, "जब वह फिर भी नहीं लौटा तो हमें शक हुआ कि शायद चीनियों ने उसे सीमा के पास गिरफ़्तार कर लिया है। अतः हमने चीन सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया—घटना के लगभग एक महीने बाद हमने यह सवाल उठाया था। उन्होंने उत्तर दिया कि हमारे सैनिकों ने उनकी सीमा भंग की थी, उनकी भूमि पर अनधिकृत रूप से पदार्पण किया था और इसलिए उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया था। लेकिन चीन सरकार ने यह लिखा था कि भारत-चीन के सम्बन्धों को देखते हुए वह उन सैनिकों को रिहा करने वाले हैं। और बाद में हमारे सैनिकों को लगभग एक मास हिरासत में रखने के बाद उन्होंने रिहा कर भी दिया।

"यह है उस सड़क के बारे में कुल बात जिस पर माननीय सदस्य ने प्रश्न उठाया था। यूँ बात यह है कि इस सारे प्रदेश में कोई निश्चित सीमा विभाजन नहीं है। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है हमारे नक्शों में स्पष्ट रूप से यह दिखाया गया है कि यह इलाका भारतीय राज्य संघ का ही हिस्सा है। हो सकता है कि कुछ हिस्से स्पष्ट रूप से निर्धारित न हों। लेकिन ज़ाहिर है कि अगर किसी विशेष हिस्से के बारे में कोई मतभेद या झगड़ा है तो उसके बारे में बातचीत की जा सकती है। जिस सीमा की तरफ़ इशारा है वह पुराने कश्मीर राज्य, तिब्बत और चीनी तुर्किस्तान के बीच की सीमा है। उस सीमा को किसी ने निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया है। लेकिन मोटे तौर पर पर्यवेक्षण करके तत्कालीन भारत सरकार ने यह सीमा निर्धारित कर दी थी जिसे हम मानते आ रहे हैं।"

श्री गोरे ने कहा : "क्या इसका मतलब यह है कि हमारे देश के जो भी हिस्से दुर्गम हैं और जहाँ पहुँचना दुश्वार है वहाँ कोई भी दूसरा देश सड़कें

बना सकता है और छावनियाँ डाल सकता है ? हम पूछ-ताछ के लिए अपने दल भेजते हैं, चीनी हमारे दलों को गिरफ्तार कर लेते हैं और फिर हमारे आपसी मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के कारण उन्हें रिहा कर देते हैं—बस इतना काफी है ? और सब अपनी जगह पर है विदेशी हमारी भूमि पर कब्जा किए हुए हैं और हम इस बारे में कुछ नहीं कर सकते ?'

"मैं नहीं जानता कि माननीय सदस्य मुझसे यह आशा रखते हैं कि मैं उनकी इन बातों का जवाब दूँ," प्रधान मंत्री ने कहा, "यहाँ पर, दरअसल, दो-तीन सवाल पैदा होते हैं। यह सवाल सीमान्तों से सम्बन्ध रखते हैं। सीमान्त के कुछ भागों के बारे में तो दोनों में से किसी पक्ष को इस बात पर सन्देह या आपत्ति नहीं है कि सीमान्त का वह विशेष भाग हमारा है। उस प्रदेश पर कब्जा करने का प्रयत्न हमारे लिए एक चुनौती है।

"लेकिन कुछ इलाके ऐसे हैं जहाँ यह निश्चित रूप से निर्धारित करना मुश्किल है कि सीमा रेखा कौन-सी है—चाहे हाँ इस बारे में मोटा-मोटा ज्ञान हो। मानचित्रों पर हम रेखा को बनाना बहुत मुश्किल काम है, यदि बहुत मोटी रेखा खींची जाये तो तीन चार मील भूमि तो उसी से ढँक जाती है।

"फिर कुछ ऐसे हिस्से हैं जिनकी सीमाएँ पहले कभी निर्धारित नहीं की गयीं। यह हिस्से वह हैं जिनमें किसी देश को कोई दिलचस्पी नहीं थी। इसलिए अब इस सम्बन्ध में दोनों पक्षों को उपस्थित तथ्यों पर गौर करना होगा और यदि सीमान्त के बारे में कोई झगड़ा खड़ा होगा तो उचित और शान्तिपूर्ण ढंग से उसके बारे में फैसला करना होगा। यूँ इस खास मसले पर हम चीन से पत्र-व्यवहार कर रहे हैं और हमने यह सुझाव रखा है कि दोनों सरकारें इस समस्या पर विचार करें।"

तीन दिन बाद श्री नेहरू ने राज्य सभा में अक्साई चिन में हुई घटनाओं के बारे में एक ज्यादा सुलझा हुआ वक्तव्य दिया।

येहचेंग-गर्तोक मार्ग (जिसे सिंक्यांग तिब्बत मार्ग भी कहते हैं) सितम्बर, १९५७ में बन कर पूरा हुआ था। अगले वर्ष अर्थात् १९५८ की गर्मियों में दो भारतीय पर्यवेक्षक दल अक्साई चिन इलाके में यह पता लगाने के लिए भेजे गये कि इस सड़क का भारतीय सीमान्त से क्या सम्बन्ध है और वह भारतीय क्षेत्र में होकर गुजरती है या नहीं।

इनमें से एक दल को चीनियों ने गिरफ्तार कर लिया। दूसरे दल ने लौट कर यह रिपोर्ट दी कि यह सड़क दक्षिण में सरीग जिलगनग झील के पास भारतीय इलाके में घुसी है और फिर उत्तर-पश्चिम की ओर लहारा के उत्तर-

पश्चिमी कोने में हाजी लंगर के पास भारतीय इलाक़े को छोड़ती हुई चली गयी है।

भारत के आपत्ति-पत्र के उत्तर में चीन सरकार ने १ नवम्बर, १९५८ को यह घोषणा की कि उन्होंने भारतीय पर्यवेक्षक दल को छोड़ दिया है और यह कि सिक्यांग-तिब्बत मार्ग केवल चीनी प्रदेश में होकर गुज़रता है।

चीनी घोषणा के दूसरे अंग पर (अर्थात् चीन के इस दावे पर कि सिक्यांग-तिब्बत मार्ग चीनी प्रदेश से ही गुज़रता है) ८ नवम्बर के एक पत्र द्वारा भारत सरकार ने आश्चर्य प्रगट किया लेकिन बार-बार याद दिलाने के बावजूद चीन से उसका कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ।

अक्साई चिन प्रदेश की सामान्य ऊँचाई १७,००० फ़िट से अधिक है। सन् १८४२ में कश्मीर के महाराजा गुलावसिंह, तिब्बत के लामा गुरुशाहिब और चीन के सम्राट के प्रतिनिधि के बीच एक सन्धि हुई थी जिसके अनुसार, अक्साई चिन को शामिल करते हुए, लद्दाख का पूरा इलाक़ा जम्मू-कश्मीर राज्य का अंग बन गया था।

उसके उपरान्त यह इलाक़ा बराबर जम्मू-कश्मीर राज्य का ही अंग बना रहा। अंग्रेजों ने उसके बाद कई बार इस बात की कोशिश की कि तिब्बत तथा जम्मू-कश्मीर के बीच की सीमा पुनः निर्धारित की जाये। इस काम में सहयोग देने के लिए चीनी सम्राट से प्रार्थना की गयी कि वे अपना प्रतिनिधि भेजें। चीनियों ने इस कार्रवाई में कोई भाग नहीं लिया। १३ जनवरी, १८४६ को चीनी कमिश्नर ने यह वक्तव्य दिया, "मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि उक्त दोनों देशों के बीच की सीमा काफ़ी निश्चित रूप से निर्धारित हो चुकी है और इसलिए सबसे उत्तम बात यह होगी कि परम्परागत सीमाओं को ही माना जाये। इन सीमाओं को फिर से निर्धारित करने के लिए कोई प्रयत्न न करना ही अब सुविधाजनक होगा।"

अंग्रेजों की भी यही राय थी। हालांकि भूमि पर कोई वास्तविक सीमा निर्धारण नहीं किया गया था फिर भी नक़्शे पुराने रिवाजों और परम्पराओं के आधार पर बनाए गये थे। यह नक़्शे भारत में पिछले लगभग सौ वर्षों से इस्तेमाल किये जा रहे थे। इनमें अक्साई चिन प्रदेश को लद्दाख का हिस्सा बताया गया था। क्योंकि चीन-तिब्बत के साथ अक्साई चिन की सीमा का भूमि पर निर्धारण नहीं हुआ था इसलिए एक-दो बार इस बारे में प्रश्न खड़े हुए थे। पुराने चीनी मान-चित्रों में अक्साई चिन और तिब्बत तथा चीन के बीच की सीमा दूसरी तरह से दिखायी गयी थी।

श्री डी॰ पी॰ सिंह ने यह सवाल उठाया था कि इस मामले में लोक सभा की राय पहले क्यों नहीं ली गयी और उस पर श्री नेहरू ने कहा था : "ऐसी

कोई खास बात नहीं थी जिसके लिए लोक सभा को आगाह किया जाता और उसकी राय ली जाती हमारी जानकारी के बगैर चीनियों ने उक्त प्रदेश के एक दूरस्थ कोन म एक सडक बना ली है और हम पत्र-व्यवहार द्वारा इस बारे म कारवाइ कर रहे हैं। एसी परिस्थिति अब तक पैदा नही हुई है जिसकी ओर लोक सभा का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक होता—हमने सोचा था कि हम इस समस्या को पत्र-व्यवहार द्वारा सुलझा लेंगे और उचित समय पर लोकसभा को इस विषय पर पूरी सूचना द देंगे।"

सन् १९५९ म चीनियो ने निब्बन सिक्याग मार्ग के पश्चिम मे एक और सडक बनायी। इसके अलावा अपनी सैनिक चौकियों के बीच यातायात की सुविधाएँ सुगमतर करने के लिए उन्होंने कई और भी सडकों का निर्माण किया। इसके विपरीत, सन् १९६० तक, भारत ने उत्तरी सीमान्त के इलाकों मे याता-यात की सुविधाओं को ठीक करने के लिए कोई कदम नही उठाया। जनवरी, १९६०, मे सीमान्त मार्ग विभाग की स्थापना की गयी जिसने तोवाग तथा बोमदीला के बीच केवल १८ महीने मे सडक बना दी।

सीमा सम्बन्धी समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढग से सुलझाने के लिए श्री नेहरू ने फिर एक महान प्रयत्न किया और १९६० के शुरू में चाउ इन-लाई को दिल्ली आने का निमत्रण दिया। लेकिन भारत मे बहुत कम लोगो को यह उम्मीद थी कि दोनो देशो के बीच कोई सन्तोषजनक समझौता हो सकेगा।

१९ अप्रैल, १९६०, को चीनी प्रधानमत्री दिल्ली पहुँचे और अगले छः दिनों तक श्री नेहरू से उनकी वार्त्ता चलती रही। वार्त्ता के अन्त मे दोनो प्रधान मत्रियो न घोषणा की कि वे दोनो समस्याओं को सुलझाने मे असफल रहे।

इसके उपरान्त यह तय पाया गया कि दोनों देशों के अधिकारी मिलें और सारे आवश्यक तथा सम्बन्धित प्रमाणों का अध्ययन करके रिपोर्ट दें। साथ ही इस बात का भी फैसला किया गया कि सीमान्तों पर झगडों की रोक-थाम करने के लिए हर मुमकिन कोशिश की जाये।

यह विश्वास किया जाता है कि इन वार्त्ताओं के दौरान में चाउ इन-लाइ ने एक विशेष प्रकार का विनिमय प्रस्तावित किया था। चीनी प्रधान मत्री का सुझाव था कि नेफ़ा सीमान्त पर चीन भारत द्वारा निर्धारित सीमा स्वीकार करने और मैकमहोन रेखा के पीछे हटने को तैयार हो सकता है यदि भारत लद्दाख मे उस सीमा को स्वीकार कर ले जहाँ तक चीनी तब तक बढ चुके थे। चीन के इस प्रस्ताव से यह स्पष्ट था कि अक्साई चिन मे बनी हुई सडक का उनके लिए विशेष महत्त्व है।

लेकिन उस समय तक भारत मे सामान्य जनमत, विशेषत संसद के विरोधी दल इस विषय पर इतने भडक उठे थे कि श्री नेहरू के सामने समझौते

के लिए कोई रास्ता नहीं था। चाउ इन-लाई दिल्ली में ही थे जब लोगों ने बड़ी संख्या में श्री नेहरू के निवास स्थान के सामने जोरदार प्रदर्शन किया और यह माँग की कि चाउ इन-लाई के व्यक्तिगत दबाव से भारत सरकार को ढीला नहीं पड़ना चाहिए। श्री नेहरू ने लोगों को आश्वासन दिया कि भारत की तिल भर भूमि भी चीन को नहीं दी जायेगी।

मेरी व्यक्तिगत राय है कि यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण बात थी कि श्री नेहरू को चाउ इन-लाइ का यह प्रस्ताव अस्वीकार करने पर मजबूर होना पड़ा जब कि कोई भी यथार्थवादी इस समझौते को मान लेता।

इस समझौते के अन्तर्गत चीन अक्साई चिन का जो हिस्सा माँग रहा था वह यूँ भी सुदृढ़रूप से उसके अधिकार में था और इस बात की कोई सम्भावना नहीं थी कि इस समय या भविष्य में भारत उस इलाके को चीन से वापस ले सके। वास्तव में, चीन हमसे उस प्रदेश को प्राप्त करने की स्वकृति चाहता था जो यूँ भी उनके क़ब्जे में था और उसके बदले में वह मैक्मेहॉन रेखा को स्वीकार करने को तैयार था।

राजनैतिक मामलों में ऐसी स्थितियाँ पैदा होती हैं जब यथार्थवादी लोग नुक़सान सह लेने में भलाई समझते हैं क्योंकि दूसरा कोई रास्ता नहीं होता। भारत सरकार यह अच्छी तरह जानती थी कि वह अपने इस निश्चय का समर्थन सैनिक शक्ति से नहीं कर सकती और चीन के साथ युद्ध करने के लिए वह बिल्कुल तैयार नहीं है। लेकिन ऐसा लगता था कि चीन के साथ झगड़ों में भारत के ऊपर कोई ग्रह लगा हुआ था जिसके कारण बिगड़ी हुई परिस्थिति को सम्हालना उसके लिए असम्भव था।

अक्साई चिन में बनी हुई सड़क का चीन के लिए कितना ज़बरदस्त महत्त्व था और किसी भी हालत में उस पर क़ब्जा रखने का उनका इरादा कितना दृढ़ था, यह बात २६ दिसम्बर, १६५६ के चीनी सरकार के इस पत्र में स्पष्ट है :

"सिक्यांग और पश्चिमी तिब्बत के बीच यही क्षेत्र एकमात्र जरिया है जिसके द्वारा यातायात सम्भव है क्योंकि उत्तर पूर्व में गोबी का विशाल मरुस्थल है जिसमें होकर तिब्बत पहुँचना लगभग असम्भव है।" इसी पत्र में चीनी सरकार ने इस बात पर फिर से जोर दिया कि "यह क्षेत्र हमेशा से चीन का अंग रहा है और सिक्यांग तथा तिब्बत के बीच यातायात के लिए वे सदा इसी मार्ग को इस्तेमाल करते रहे हैं।" चाउ इन-लाई ने यह भी कहा कि सन् १६५० में चीन की लोक मुक्ति सेना इसी मार्ग से होकर सिक्यांग से तिब्बत में अरी प्रदेश तक गयी थी।*

* १५ नवम्बर, १६६२ को चीन भारत सीमा प्रश्न पर चाउ इन-लाई द्वारा अफ्रीकी और एशियाई नेताओं को लिखे गये पत्र के अनुसार।

श्री नेहरू ने लोक सभा को बताया कि चीन का यह दावा है कि सैकड़ों वर्षों से काराकोरम पर्वतमाला कोंग का दर्रे तक उसका सीमान्त रही है। उनका यह भी दावा था कि इस प्रदेश का उत्तरी हिस्सा तिब्बत का नहीं, सिंक्यांग का भाग है। उनका कहना था कि यह प्रदेश गोबी मरुस्थल की तरह है—वहाँ कोई प्रशासकीय व्यवस्था नहीं थी, केवल एक दूरस्थ नियंत्रण था शासन अधिकारी या कर वसूल करने वाला अफसर वहाँ कभी-कभी जाता रहता था। लाल सरकार स्थापित होने के कई वर्ष पहले से इस इलाके पर चीन का वास्तविक अधिकार रहा था।

लेकिन श्री नेहरू ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि चीन ने कभी भी, अक्षांश, देशान्तर तथा पर्वतमालाओं को निश्चित करके, इस क्षेत्र में दृढ़ सीमा निर्धारण नहीं किया था।

चाउ इन-लाई दिल्ली से निराशा, कटुता और क्रोध से भरपूर वापस गये। रास्ते में काठमण्डु रुककर, अर्धरात्रि के एक पत्रकार सम्मेलन में उन्होंने खुल कर अपनी इस मनोस्थिति को प्रगट किया। भारत द्वारा उनके प्रस्ताव को रद्द करने का अर्थ उनके लिए केवल यही था कि अब से चीन भारत के साथ ज्यादा सख्ती से पेश आये।

यह स्पष्ट था कि दोनों पक्षों की मनोवृत्ति ऐसी होने पर बाद में होनेवाली अधिकारियों की बातचीत असफल रहे। इस बातचीत का केवल एक ही लाभ था कि दोनों देशों के बीच खुले तौर पर झगड़ा शुरू होने की स्थिति कुछ समय के लिए और टल जाये।

यहाँ से भारत चीन सम्बन्धों ने एक और नया और भयानक मोड़ लिया। पीकिंग सरकार ने यह इरादा कर लिया कि अब फ़ौरन खुले तौर पर भारत से झगड़ा शुरू कर दे। इस निश्चय के अन्तर्गत चीन ने अपने और दबावों को हल्का करना शुरू किया।

सबसे पहले तो चीन ने नेपाल से मित्रता बढ़ाने के लिए विशेष प्रयत्न किये। चीन तथा नेपाल के बीच एक आर्थिक समझौता हुआ। जिसके अंतर्गत नेपाल को दस करोड़ रुपये की सहायता देना तय हुआ। साथ में यह भी निश्चित हुआ कि चीनी विशेषज्ञों का एक दल पूरी तरह चीन के खर्चे पर नेपाल में तकनीकी विकास कार्यों के लिए आये। चीन ने यह भी उत्तरदायित्व लिया कि वह नेपाली तकनीकी विद्यार्थियों को अपने खर्चे पर चीन में विशेष प्रशिक्षण देगा। इसके अलावा यह फ़ैसला किया गया कि चीन तिब्बत और नेपाल को मिलाने के लिए एक सड़क का निर्माण करे।

चीन ने काठमण्डु में एक विशाल दूतावास भी खोला—अब तक नयी दिल्ली में स्थित चीनी राजदूत ही यह काम चलाता रहा था।

चीन ने नेपाल के साथ सीमा सम्बन्धी समझौता भी किया जिसमें उसने ऐवरेस्ट पर्वत पर अपना बहुत दिनों का दावा नजर अन्दाज कर दिया। वास्तव में, जब नेपाली विदेश मंत्री समझौते पर हस्ताक्षर करके पेकिंग से स्वदेश लौटे तो उन्होंने विश्व के उच्चतम शिखर पर नेपाल का अधिकार पुनः घोषित किया और चीन ने उनके इस दावे पर कोई आपत्ति प्रगट नहीं की।

चीन-नेपाल मैत्री का अर्थ यह था कि आर्थिक तथा राजनैतिक रूप से चीन उस प्रदेश में दाखिल हो गया है जिसे भारत तब तक अपने प्रभाव में समझता रहा था। चीन ने तो यह भी प्रस्ताव रखा था कि वह नेपाल से यह समझौता कर ले कि वे दोनों एक दूसरे पर कभी आक्रमण नहीं करेंगे लेकिन नेपाल ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

कुछ समय पूर्व ही श्री नेहरू ने नेपाल के बारे में यह घोषणा की थी कि नेपाल की सीमा भारत की सीमा है और नेपाल पर किया गया आक्रमण भारत पर आक्रमण समझा जायेगा।

उसी वर्ष चीन ने बर्मा से भी एक सीमा सम्बन्धी समझौता किया जिसमें बड़ी उदारता से, उसने दोनों देशों के बीच मैक्महॉन रेखा को सीमा के रूप में स्वीकार किया। यह प्रयत्न था भारत को चिढ़ाने तथा भारत के समान सीमा के विषय पर बर्मा की आपत्तियों का अन्त करने का।

इसके बाद चीन ने पाकिस्तान को पटाने का काम शुरू किया और इस बात का प्रस्ताव रखा कि पाकिस्तान के क़ब्जे में कश्मीर का जो भाग है, उसके तथा चीन के बीच की सीमा के बारे में समझौता कर लिया जाये। साथ ही चाउ इन-लाई ने इन्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकार्नो की तरफ़ मित्रता का हाथ बढ़ाया और इन्डोनेशिया में रहने वाली चीनी जनसंख्या के प्रति जकार्ता का जो तथाकथित दुर्व्यवहार था उस बारे में दोनों देशों के बीच बहुत दिनों के मतभेद को खत्म कर दिया।

चीन की इन सारी चालों के पीछे यह लक्ष्य था कि भारत को उसके सारे पड़ोसियों से अलग कर दिया जाये। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए, १९६३ के शुरू में पेकिंग सरकार ने यह प्रस्ताव भी रखा कि नेपाल, भूटान, सिक्किम, नेफ़ा और नागा प्रदेश को मिलाकर एक हिमाचल संघ की स्थापना की जाये। साथ ही साथ, ऐशियाई और अफ्रीकी देशों में स्थित चीनी प्रचारतन्त्र ने भारत को बदनाम करने और उसे ग़लत सिद्ध करने का हर सम्भव प्रयत्न किया।

इसी बीच भारत-चीन सीमा समस्या के सिलसिले में शाब्दिक कार्रवाई के बजाय सैनिक मुठभेड़ों का क्रम शुरू हो गया। जैसे-जैसे सशस्त्र झगड़ों की संख्या बढ़ती गयी और चीनी धीरे-धीरे भारत की भूमि हड़पते गये वैसे-वैसे

चीन ने ऐसे नये मान-चित्र प्रकाशित किये जो चीन द्वारा भारत के सीमान्त क्षेत्रों को हड़प करने का समर्थन करते थे और नये क्षेत्रों पर चीन का दावा प्रतिपादित करते थे।

इसके फलस्वरूप दोनों पक्षों ने ऐसे क्षेत्रों में अग्रिम चौकियाँ स्थापित करना और गश्त लगाना शुरू किया जिनकी ओर पहले दोनों में से किसी ने ध्यान नहीं दिया था। इन कार्रवाइयों की वजह से दोनों देशों की प्रचण्ड सैनिक भिड़न्त होना निश्चित होता जा रहा था।

नेहरू-चाउ वार्ता के उपरान्त दोनों देशों के अधिकारियों की बातचीत बिल्कुल निरर्थक थी। इस बातचीत से चीनियों ने केवल यह लाभ उठाया था कि चतुर प्रश्नों और हमारे अफसरों द्वारा दिये उनके स्पष्ट उत्तरों से उन्होंने हमारे सीमान्त प्रदेशों के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त कर ली थी।

कामेंग विभाग में हमारी चौकियों के बारे में चीनियों ने बारह प्रश्न किये (बाद में इसी इलाके में उन्होंने सबसे जबरदस्त आक्रमण किया)। नेफा प्रदेश के बारे में उन्होंने कुल मिलाकर पच्चीस स्पष्टीकरण माँगे।

बातचीत के अन्त तक चीनियों ने नेफा के सीमान्त इलाकों के बारे में सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और पूरी जानकारी प्राप्त कर ली थी। दो वर्ष बाद आक्रमण करते समय उन्होंने इस जानकारी से पूरा लाभ उठाया था।

बातचीत के बारे में रिपोर्ट देते समय भारतीय अधिकारियों ने यह शिकायत की कि "भारतीय पक्ष द्वारा पूछे गये ११८ प्रश्नों में से चीनियों ने केवल ४६ का उत्तर दिया—इनमें से भी अधिकतर उत्तर अपूर्ण थे—जबकि भारतीय पक्ष ने चीनियों द्वारा पूछे गये सब प्रश्नों का उत्तर पूरी तरह दिया।"

रिपोर्ट ने आगे कहा, "बातचीत के दौरान में एक बार चीनी पक्ष ने यह मत प्रगट किया कि हमारे द्वारा उनकी निर्धारित की हुई सीमा के बारे में जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न अनावश्यक है और उन्होंने कहा कि भारतीय पक्ष को सीमा के कुछ विशेष और निश्चित स्थानों तक ही अपनी पूछ-ताछ सीमित रखनी चाहिए ताकि सम्मेलन के बारहवें अधिवेशन तक आइटम नंबर एक (सीमा की स्थिति तथा भूमि विशेषताएँ) पर सारा वाद-विवाद पूरा हो जाये।

"भारतीय पक्ष ने इस ओर संकेत किया कि आइटम नंबर एक का मूल महत्त्व इसलिए है" कि जब दोनों पक्षों को सीमा की स्थिति की पूरी और स्पष्ट जानकारी होगी तभी वे उन क्षेत्रों को अच्छी तरह जान सकेंगे जिनके बारे में मतभेद है और अपनी अपनी सरकारों के दावों के समर्थन में प्रमाण पेश कर सकेंगे।

"स्वयं चीनी पक्ष ने इस सम्बन्ध में कई प्रश्न किये थे" और भारतीय पक्ष ने हमेशा पूरी तरह उनके उत्तर दिये थे।

> "बाद में चीनी पक्ष ने अपनी आपत्ति वापस ले ली लेकिन यह जानना चाहा कि क्या भारतीय पक्ष चीन द्वारा निर्धारित सीमा इस लिए जानना चाहता है कि उसके बाद भारतीय सैनिक उस सीमा रेखा को पार नहीं करेंगे।"

इस बीच में सीमान्त प्रदेशों में चीनी उत्पात बढ़ते जा रहे थे।

४

निर्णय ले लिया गया

सन् १९६१ के अन्त तक उत्तरी आकाश में युद्ध के घने, काले बादल छाने लगे थे। भारत तिब्बत सीमा पर तनाव बढ़ता आ रहा था। और किसी भी समय विस्फोट की सम्भावना थी।

जैसे-जैसे चीनी सीमान्त के पूर्वी तथा पश्चिमी विभागों में ज्यादा-से-ज्यादा घसते गये वैसे-वैसे नयी दिल्ली ने मशीनगन की रफ्तार से पीकिंग को आपत्ति-पत्र भेजने शुरू किये—वास्तव में यदि यह आपत्तिपत्र विस्फोटक होते तो सारा चीन विध्वस हो जाता।

भारत की उत्तेजित जनता यह माँग कर रही थी कि सरकार चीन के खिलाफ ठोस और मजबूत कार्रवाई करे।

सैनिक और मनोवैज्ञानिक रूप से अभी तक युद्ध के लिए तैयार न होने तथा उस समय तक भी यही विश्वास करते रहने के कारण कि चीन युद्ध नहीं छेड़ेगा, भारत सरकार ने इस विषय पर एक 'अग्रिम नीति' अपनायी जिसमें कोई दम नहीं था। वास्तव में ऐसा लगता था कि यह नीति उत्तरी सीमान्त चीनी संकट को रोकने के लिए नहीं, भारतीय जनमत को बहलाने के लिए बनाई गयी है।

हमारे जो सैनिक दस्ते सीमान्त पर चीनियों का मुकाबिला करने के लिए स्थित थे वे संख्या में बहुत कम थे, संभार तान्त्रिक सहायता मिलने की व्यवस्था अत्यन्त खराब थी और रसद तथा शस्त्रादि प्राप्त करने के लिए वे हवाई यातायात पर निर्भर थे। इसके विपरीत चीनियों की सैनिक संख्या अधिक थी और न केवल उनकी चौकियाँ कम फासले पर स्थित थीं बल्कि उन्हें आवश्यक सामग्री पहुँचाते रहने के लिए सुगम मार्गों का जाल बिछा हुआ था।

सन् १९५९ और १९६१ के बीच जब भारत सरकार टालमटोल कर रही थी, मीटिंगें कर रही थी, फ़ाइलें इधर से उधर दौड़ा रही थी, विस्तारपूर्ण आपत्ति-पत्रों का विनिमय कर रही थी और कुछ ढीली-ढाली कार्रवाई कर रही थी, उसी समय में चीन अत्यन्त व्यावहारिक रूप से लद्दाख में अपनी 'अग्रिम नीति' कार्यान्वित कर रहा था—नयी सैनिक चौकियाँ स्थापित कर रहा था, भारतीय प्रदेशों में काफी अन्दर उसके दस्ते गश्त कर रहे थे, नई सड़कें बनायी जा रही थीं और वह अधिकाधिक भारतीय भूमि को निगलता जा रहा था।

जून, १९५९ तक भारतीय पुलिस के गश्ती दस्तों ने पाया कि कोंगका दर्रे पर चीनी अधिकार नहीं है। उस समय चीनी अक्साई चिन मार्ग और लानक ला से आगे नहीं बढ़े थे। लद्दाख प्रदेश में उनकी अग्रिम चौकियाँ स्पांग्गुर तथा खुर्नक दुर्ग में ही थीं।

लेकिन २१ अक्तूबर, १९५९ को हमारे गश्ती दस्तों पर चीनियों ने कोंगका ला के पास छिपकर छापा मारा। दिसम्बर, १९५९ तक चीनियों ने मध्य विभाग में लानक ला और कोंगका ला के बीच ऐसी सड़क बना ली जिस पर मोटरें आसानी से आ-जा सकती थीं। उत्तर में, क़राकाश दरिया से लग कर क़राताग से सुम्दो तक तथा उसके आगे शामल लुंगपो तक भी उन्होंने एक और सड़क बना ली थी। इस प्रकार उन्होंने क़राताग, शामल लुंगपो तथा लानक ला के बीच नियंत्रण की एक उत्तर-दक्षिण रेखा स्थापित कर ली थी।

सन् १९६० में चीनियों ने दक्षिण में और भी दूर तक अपनी निगाह दौड़ायी—उन्होंने चांग चेनमो घाटी तथा पॉन्गांग त्सो में प्रवेश किया और न्याग्ज़ू तथा डम्बूगुरु में अपनी चौकियाँ स्थापित की। सन् १९६१ में इन चौकियों को खुर्नक दुर्ग तथा कोंगका ला से मिलाने वाले एक मार्ग का निर्माण पूरा किया। तिब्बत में स्थित रुदॉक को स्पांग्गुर से मिलाने वाली एक और सड़क भी बनायी गयी।

लद्दाख के मध्य सेक्टर में चांगचेनमो घाटी तथा खुर्नक दुर्ग के बीच चीनियों ने १४००-१८०० वर्ग मील भूमि अपने कब्ज़े में कर ली थी।

१९६१ के अन्त तक हमारे गुप्त सूचना विभाग की रिपोर्टों से यह पता चला कि चीनी स्पांग्गुर में अपनी चौकी को और भी मज़बूत बना रहे हैं और उस समय वहाँ उनकी दो सैनिक कम्पनियाँ स्थित हैं।

स्पांग्गुर भारत का अंग था और उस प्रदेश में था जिसके बारे में स्वयं चीनी भी यह कहते थे कि वे वहाँ गश्त नहीं लगाते हैं। उसके और उत्तर में चीनियों ने चिपचाप और सुम्दो में भी अपनी सैनिक चौकियों को और अधिक सुदृढ़ बना लिया था।

इस बात की भी सूचना मिली थी कि नेफ़ा सीमान्त से लगे हुए तिब्बती प्रदेश में भी चीनी अपनी सैनिक स्थिति संगठित कर रहे हैं। नेफ़ा के सियांग

और लोहित डिवीजनों के सामने पमाको क्षेत्र में चीनियों ने अपनी सेनाएं भेज दी और उनके गश्ती दस्ते हमारी सरहद तक छापा मारने लगे।

इस स्थान पर सीमान्त के दर्रों की ऊँचाई सबसे कम है। पेमाको प्रदेश विशेष रूप से निकटतम तथा आसानी से विकसित किया जा सकने वाला मार्ग या सिकाग-ल्हासा सड़क से, सियाग घाटी से लगे-लगे नेफा जाने के लिए।

कामेंग सेक्टर के पार लोला दर्रे के निकट और साहित सेक्टर के पार त्सेट दवस्थ दर्रे व आस-पास नयी चीनी चौकियाँ पायी गयीं। चीनी दस्ते सुबन-सिरि सेक्टर के पार थागला और लोहित सेक्टर के पार सामा तक गश्त लगाने लगे। चीनियों ने त्सुन दजाग से लु म तक तथा कामेंग सेक्टर के पार मार्मांग से ले तक सड़कें बनाने का काम भी तेजी से पूरा किया।

नेफा के आदिवासियों को कई तरीकों से फुसलाने का काम भी चीन ने शुरू कर दिया। इसका एक उदाहरण था कि भारत में अपराध करने के बाद सुबनसिरि सीमान्त डिवीजन की टैगिन जाति के कुछ लोग जब सीमा पार करके भागे तो चीनियों ने उन्हें तिब्बत में आश्रय दिया और उनमें से दो को गाँव का अधिकारी बना कर राइफिल भी दे दीं।

नवम्बर, १९६१ में प्रधान मंत्री ने लद्दाख और नेफा में स्थित सेना को नये आदेश दिये। इसके अनुसार उन्हें आज्ञा मिल गयी कि अपनी वर्तमान स्थितियों से अन्तर्राष्ट्रीय सीमा तक जितनी दूर तक सम्भव हो, वे गश्त लगायें। इस आदेश के पीछे यह इरादा था कि हम ऐसी नयी चौकियाँ स्थापित करें जो चीनियों को आगे बढ़ने से रोकें और उनकी उन चौकियों पर अधिकार कर लें जो हमारी भूमि पर बनी हों। गश्ती दस्तों से कहा गया कि जब तक आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक न हो तब तक वे चीनियों से झगड़ा मोल न लें।

उत्तर प्रदेश और तिब्बत की सीमा पर वे कठिनाइयाँ नहीं थीं जो लद्दाख में थीं। हमारे प्रतिरक्षा दलों को इसलिए यह आदेश दे दिया गया कि वे जितनी दूर सम्भव हो पहुँच जायें और उस पूरे सीमान्त पर सक्रिय रूप से कब्जा कर लें। प्रतिरक्षा रेखा में कहीं भी खाली स्थान रह जायें तो उन्हें गश्त लगाकर या चौकियाँ स्थापित करके भर देने का आदेश भी था।

अन्त, ५ दिसम्बर, १९६१ को सैनिक हैड क्वाटर ने पूर्वी तथा पश्चिमी कमांडों को आदेश दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय सीमा की दिशा में जहाँ तक सम्भव हो, हमारे दस्ते गश्त लगायें, चीनियों को आगे बढ़ने से रोकने के लिए और सैनिक चौकियाँ स्थापित करें, हमारी भूमि पर बनी हुई चीनी चौकियों पर हावी हो जायें, पूरे सीमान्त पर सक्रिय रूप से कब्जा कर लें, खाली स्थानों को गश्त लगा कर या चौकियाँ स्थापित करके भरें और अपनी समस्याओं का फिर से मूल्यांकन करें।

इस आदेश के द्वारा भारत सरकार ने उत्तरी सीमान्त पर अपनी 'अग्रिम नीति' को कार्यान्वित किया। निर्णय की दुन्दुभी बज उठी थी।

६ मई, १९६२ को जनरल थापर ने प्रधान मंत्री को आश्वासन दिया था कि यदि चीनियों ने अक्साई चिन प्रदेश में हमारी चौकियों पर आक्रमण किया तो प्रत्युत्तर में हम उनकी स्पांगुर में स्थित चौकी पर कब्जा कर लेंगे क्योंकि चुशुल क्षेत्र मे हमारी सैनिक संख्या चीनियो से अधिक थी। लेकिन साथ ही यह भी कहा गया कि चुशूल से स्थानीय आक्रमण की सूरत में वहाँ की सैनिक शक्ति बढ़ाना आवश्यक होगा। लेकिन ऐसा करने के लिए कोई कदम नही उठाया गया।

४ मई को सैनिक हैड क्वार्टर ने पश्चिमी कमान्ड को चेतावनी दी कि उत्तरी लद्दाख में चिपचाप नदी के मोर्चे पर स्थित हमारी चौकियों के खिलाफ चीनियों में तीव्र प्रतिक्रिया है और इस बात की सम्भावना है कि वे हमारी चौकियों को उखाड़ने का प्रयत्न करें। १५ मई तक उक्त चौकियों की सैनिक संख्या बढ़ाने के लिए आदेश दे दिये गये। साथ ही पूर्वी कमान्ड से कहा गया कि नेफ़ा-तिब्बत सीमा पर हमारी चौकियाँ जल्द से जल्द, २० मई से पहले तैयार हो जायें।

पश्चिमी कमान्ड को दिये गये आदेशों के साथ सी० जी० एस० ने इस बात पर भी जोर डाला कि अपनी 'अग्रिम नीति' को सक्रिय और जोरदार रूप से प्रक्षेपित करने तथा लद्दाख, विशेषतः उत्तरी इलाकों मे स्थित अपने सैनिकों में रण-प्रवृत्ति क़ायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि सशक्त रूप से गश्ते लगायी जायें भले ही चौकियों की सैनिक संख्या कम हो। लेकिन इस बात का भी ध्यान रखने का आदेश दिया गया कि यह गश्ते सिर्फ़ सर्वेक्षण कार्य के लिए हों और केवल आत्म-रक्षा के लिए ही शस्त्रों का प्रयोग किया जाये।

भारत सरकार की 'अग्रिम नीति' के ज़ोर पकड़ने के साथ अब चीन की बारी थी आपत्ति-पत्र भेजने की। चीनियों ने बार-बार यह शिकायत की कि भारतीय सैनिक दस्ते रह-रह कर उनकी सीमाओं में प्रवेश कर रहे है और धमकी दी कि यदि भारत ने अपनी सैनिक सरगर्मी नही रोकी तो उसका नतीजा बुरा होगा।

दोनों देशों की 'अग्रिम नीतियों' के जोर-शोर से क्रियाशील होने के कारण लद्दाख, विशेषतः अक्साई चिन पठार रंगमंच बन गया एक-दूसरे को धोखा देने के खतरनाक खेल को खेलने के लिए। चीनी और भारतीय चौकियाँ इस अंधा-धुन्ध तरीक़े से बननी शुरू हो गयीं कि उनकी एक गुँथी हुई सी शृंखला बन गयी जिसके कारण रह-रह कर आपस में झगड़े होना और स्थायी तनाव रहना आवश्यक हो गया।

वास्तव में हमारे गुप्त सूचना विभाग ने भर इस बात की सम्भावना देखी कि चीनी इस बात का प्रयत्न करेंगे कि हर मुमकिन जगह पर भारतीय सीमा के और अन्दर घुस कर तथा दक्षिण लद्दाख में अन्तर्राष्ट्रीय सीमा से लगी हुई हमारी दृढ़ प्रतिरक्षा रेखा को तोड़कर पिछले कुछ महीनों में स्थापित की गयी भारतीय चौकियों का व्यूह भंग कर दें।

× × ×

'नक़ली युद्ध' का अध्याय अब समाप्त हो गया।

२३ मई, १९६२, को पश्चिमी कमाण्ड के एक संदेश ने बताया कि लद्दाख में हमारी चौकियों के सामने चीनी सरगर्मी और भी बढ़ गयी है तथा इस बात की सम्भावना है कि दौलत बेग ओल्डी और स्पांगुर में अपनी अग्रिम चौकियों तक सड़क बनाने के काम को सुरक्षित रखने के लिए चीनी हमारी भूमि पर नयी चौकियों की स्थापना करें।

चीनियों ने कराकोरम दर्रे तथा चागका ला के बीच स्थित अपने दस्तों को आदेश दे दिया कि वे आगे के प्रदेशों में गश्त लगाना फिर से शुरू कर दें। साथ ही चीन ने धमकी दी कि यदि भारत ने लद्दाख में अपनी कार्रवाई बन्द नहीं की तो वे बाकी सीमान्त पर गश्त लगाना शुरू कर देंगे।

चीन ने अपने आपत्ति-पत्रों में इस बात की भी चेतावनी दी कि यदि भारतीय सैनिक लद्दाख के खाली हिस्से में नयी चौकियाँ स्थापित करने का काम बन्द नहीं करेंगे तो उन्हें 'आत्म रक्षा' के लिए मजबूर होना पड़ेगा। प्रत्युत्तर में चीनी सैनिकों ने बड़ी संख्या में चिपचाप घाटी में बनी हुई नयी भारतीय चौकियों को घेर लिया।

साथ ही, चीनी उस सीमान्त की ओर आगे बढ़ने लगे जिसका दावा उन्होंने १९६० में किया था और उन्होंने ३० नयी चौकियाँ स्थापित की जबकि १९६२ में हमने कुल मिलाकर ३५ चौकियाँ स्थापित की थीं।

इसके अतिरिक्त चीनियों ने तीन नयी सड़कों का निर्माण शुरू किया (१) सामजुंगलिंग से, गलवान नदी के किनारे-किनारे, हमारी एक चौकी के निकट तक, (२) सुनक दुर्ग से सिरिजाप के पास तक और (३) स्पांगुर झील के दक्षिणी किनारे से लगकर स्पांगुर से सिनजाग तक।

२५-२६ जून को लद्दाख का दौरा करने के बाद, लेफ्टिनेंट जनरल कौल ने सेनापति को दी गयी रिपोर्ट में लिखा

> "हम लोगों के लिए यही उत्तम होगा कि लद्दाख में जितनी चौकियाँ स्थापित कर सकें करें। यह चौकियाँ भले ही अत्यन्त छोटे मुकामों पर हों लेकिन हमें किसी हालत में इस बात का इन्तजार नहीं करना चाहिए कि इस इलाके में विशाल सैनिक संगठन स्थापित हो। मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि चीनी हमारी चौकियों पर हमला नहीं करेंगे भले ही वे उनकी चौकियों से कमजोर हों।"

यह अत्यन्त दुखद और दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि २६ जून तक जनरल कौल को यह भ्रम था कि "चीन हमारी चौकियों पर हमला नहीं करेंगे" और यह कि उस इलाक़े की सारी चीनी सरगर्मी मात्र एक घुड़की है। जुलाई के पहले दस दिनों में नयी दिल्ली और पेकिंग के बीच ३७८ आपत्तिपत्रों का विनिमय हुआ।

गलवान घाटी में काफ़ी नीचे तक चीनी प्रदेश से तथा वहाँ पर स्थित हमारी चौकी के तीन ओर से ४०० चीनी सैनिकों द्वारा घिर जाने से लद्दाख़ की परिस्थिति और भी ख़राब हो गयी।

अगले महीने चीनी लद्दाख़ के मध्य सेक्टर की ओर मुड़े और उन्होंने पांगांग झील के क्षेत्र में यूला में स्थित भारतीय चौकी को हर तरफ़ से काट दिया। यूला और सिरिजाप पर पांगांग झील में तैरती हुई नौकाओं से नियंत्रण रखा जा रहा था।

१७ अगस्त को पहली दफ़ा हमारे सैनिकों को आज्ञा दी गयी कि यदि चीन लद्दाख़ में हमारी चौकियों को घेरें तो उन पर गोली चलायी जाये।

पश्चिमी कमान्ड के सेनापति को यह आदेश दिया गया कि "हमारी चौकियों के पीछे चौकियाँ बनाने से चीनियों को किसी भी तरह रोका जाये। यदि चीनी अपनी स्थितियों से न हटें और हमारी चौकियों को घेरने का काम जारी रखें तो हमारे सैनिकों को यह आज्ञा है कि वे गोली चलायें और चीनियों के घेरे को तोड़ दें।"

चीनियों की नीति अब यह हो गयी थी कि हमारे अवपातन प्रदेशों पर क़ब्ज़ा कर ले ताकि हमारी चौकियों को हवाई यातायात द्वारा रसद आदि मिलना बन्द हो जाये। इसलिए हमारी चौकियों को यह आदेश दिया गया कि चीनी प्रयत्नों को विफल करने के लिए वह इन अवपातन प्रदेशों की रक्षा सशस्त्र रूप से करें। आदेश के शब्द थे: "अवपातन प्रदेशों पर क़ब्ज़ा करने के लिए चीनी प्रयत्नों को हमारी चौकियों पर प्रहार करने का प्रयत्न समझा जायेगा और उसे सशस्त्र रूप से विफल किया जायेगा।"

यूँ आख़िर चुनौती दे दी गयी—भारत ने भी चीन को ललकारा।

× × ×

लेकिन अगस्त, १९६२ के बीच में पश्चिमी कमान्ड के सेनापति लेफ्टिनेंट जनरल दौलतसिंह के एक नोट से यह प्रत्यक्ष होता है कि इस प्रतिरक्षा व्यवस्था में क्या पोल थी। उन्होंने बड़ी कटुता से इस बात की शिकायत की थी कि लद्दाख़ में हमारी प्रतिरक्षा व्यवस्था इतनी संगठित नहीं है कि बड़े चीनी आक्रमण के सामने ठहर सकें। दौलतसिंह ने यह आरोप लगाया था कि लद्दाख़

की रक्षा के लिए कम से कम एक डिवीजन की मांग को भी सैनिक हेडक्वार्टर ने पूरा नहीं किया था।

इसका फल यह था (जैसा जनरल दौलतसिंह ने बताया) कि लद्दाख में स्थित सीमित सेना को इस तरीके से इस्तेमाल करना पड़ रहा था कि अपने प्रदेशों का सामरिक रूप से नहीं, केवल भड़े दिखावटी ही कब्जे में रखना सम्भव था। जनरल सिंह की राय थी कि अपनी 'अग्रिम नीति' को कार्यान्वित करने के कारण परिस्थिति और भी बिगड़ गयी थी क्योंकि उसके खिलाफ चीनियों की प्रतिक्रिया बहुत ही सख्त थी। लद्दाख में उस समय चीनियों का एक पूरा सैनिक डिवीजन था जबकि हमारे सिर्फ दो नियमित और दो मिलीशिया बटालियन थे।

जनरल सिंह ने यह चेतावनी भी दी कि यदि चौकियाँ स्थापित करने की स्पर्धा जारी रही तो हर सेक्टर में और हर स्थिति में चीनी हमारे ऊपर छा जायेंगे। वास्तव में, दोनों पक्षों के सैनिक साधनों और शस्त्रास्त्रों की उस समय जो हालत थी उसके अनुसार यह बात चीनियों के हित में थी कि हम चौकियाँ स्थापित करने का काम जारी रखें। लद्दाख में अपनी सैनिक स्थिति को विशाल पैमाने पर सगठित करने की क्षमता चीनियों में हमसे कई गुणा ज्यादा थी क्योंकि आरम्भ से ही वे शस्त्रास्त्रों में हमसे चौगुने थे।

जनरल सिंह ने प्रार्थना की कि इस समस्या को सुलझाने में सामरिक तर्क का प्रयोग किया जाय क्योंकि अब तक राजनैतिक आवश्यकताओं के अनुपात में सैनिक तैयारी और साधन अत्यन्त अपर्याप्त रहे थे। उन्हें इस बात की भी शिकायत थी कि लद्दाख में हमारी अग्रिम चौकियाँ कहीं भी सामरिक दृष्टि से उचित स्थानों पर नहीं थीं जबकि चीनियों ने हर जगह सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान घेर रखे थे। हमारी चौकियाँ पूरी तरह अवपातन प्रदेशों पर निर्भर थीं और सामरिक दृष्टि से, ऊँचाई पर बनी हुई चीनी चौकियाँ उन पर पूरी तरह हावी थीं।

जनरल सिंह के अनुसार उक्त प्रदेश में हमारा सैनिक फैलाव 'झंडा दिखाने' की राजनैतिक चाल से निर्धारित था, सामरिक दृष्टिकोण से नहीं। इसके विपरीत चीनी सैनिक फैलाव से यह स्पष्ट था कि वह एक सुनिश्चित सामरिक योजना पर आधारित है और किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यवस्थित किया गया है।

जनरल दौलतसिंह की राय थी कि लद्दाख में स्थित भारतीय सेना के सामने कोई निश्चित उद्देश्य नहीं था और यदि था तो उसके लिए पर्याप्त सैनिक तैयारी नहीं थी। उनके विचार से चीनियों में इतनी सैनिक क्षमता थी कि लद्दाख में वे अपनी ही निर्धारित की हुई १९६० की सीमा के आगे के

प्रदेशों पर भी क़ब्ज़ा कर सकते थे। और यदि वे ऐसा करने का निश्चय कर लेते तो भारतीय सेना में इतनी शक्ति नहीं थी कि उन्हें रोक सकती।

अपने नोट के अन्त में जनरल सिंह ने लिखा :

"मेरा कर्त्तव्य पूरा नहीं होगा यदि मैं इस ओर ध्यान आकर्षित न करूँ कि सम्भाव्य संकट का रूप क्या है, वह कितना विशाल है और उसे टालने के लिए किन साधनों की आवश्यकता है... अन्त में मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि यह मसला ऐसा है जिसके बारे में उच्चतम राष्ट्रीय स्तर पर तुरन्त निर्णय करना आवश्यक है और ढील-ढाल करने की गुंजाइश कतई नहीं है। मैं मानता हूँ कि जिन अतिरिक्त सैनिक साधनों की माँग की गयी है उनकी मात्रा काफी अधिक है लेकिन यदि राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के संदर्भ में देखा जाये तो यह माँग बड़ी या अनुचित नहीं है। इससे कम साधनों से अपने उद्देश्य पूर्ण करना असम्भव होगा।"

जनरल सिंह के पत्र और उनके सुझावों पर जनरल थापर के सभापतित्व में सैनिक हैडक्वार्टर की एक विशेष बैठक में विस्तार में बहस हुई। दौलत सिंह स्वयं इस बैठक में उपस्थित थे। लेकिन बात-चीत के दौरान में सेना के वरिष्ठ अधिकारियों का वही आम रवैया था कि हर हल में कोई न कोई पख निकाली जाये; हर अधिकारी कोई चतुर बात कह कर वाक्‌पटुता में बाजी मारना चाहता था। नतीजा यह निकला कि सर्व सम्मति से यह सिद्ध कर दिया गया कि जनरल सिंह के प्रस्ताव अनुचित और अव्यावहारिक हैं।

बाद में बैठक के फैसलों को औपचारिक रूप से व्यक्त करते हुए, सी०जी० एस० जनरल कौल ने पश्चिमी कमाण्ड के सेनापति का ध्यान उनके इन प्रस्तावों की ओर आकर्षित किया कि सितम्बर १९६३ तक तीन ब्रिग्रेड ग्रुपों का एक पर्वतीय डिवीजन लद्दाख भेज दिया जाये और सन् १९६५ तक लद्दाख में भेजने के लिए एक और ब्रिग्रेड पूरी तैयारी में रखा जाये तथा कहा कि सितम्बर, १९६३ तक तीन ब्रिग्रेड ग्रुपों का एक पर्वतीय डिवीज़न लद्दाख भेजना असम्भव है।

जहाँ तक लद्दाख में हमारे सैनिक उद्देश्यों का प्रश्न था, वहाँ जनरल कौल ने पुनः यह बात कही कि चीनियों को आगे बढ़ने से रोकना और लेह की रक्षा करना हमारे उद्देश्य हैं। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि सैनिक हैडक्वार्टर ने सरकार को आगाह कर दिया है कि तत्कालीन साधनों को देखते हुए इस उद्देश्य की पूर्ति की गारन्टी देना असम्भव है। और चूँकि सरकार को सीमित सैनिक साधनों का ज्ञान था इसलिए उसने इस स्थिति पर सन्तोष कर लिया।

५

नकली युद्ध का अन्त

'नकली युद्ध' का रूपक १० अक्तूबर, १९६२ को अचानक खत्म हो गया। अब तक दोनों पक्ष केवल सेंधें भरने का दिलचस्प खेल खेलते रहे थे।

भारतीय सेना के एक वरिष्ठ अधिकारी ने लद्दाख में इन सरगर्मियों का वर्णन इस प्रकार किया है "एक प्रकार का खेल सा था वह। कहीं वह (चीनी) चौकी बना लेते थे, कहीं हम। हमें यह विश्वास था कि बात इसके आगे नहीं बढ़ेगी।"

लेकिन एक पक्ष ने सेंधें भरने के इस खेल में कुछ ज्यादती कर दी। नतीजा यह हुआ कि नेफ़ा के कामेंग सेक्टर के ढोला क्षेत्र में स्थित त्से जाग नामक स्थान पर चीनी तथा भारतीय दस्तों में सशस्त्र झगड़ा हो गया। यह वह चिनगारी थी जिससे युद्ध की आग भड़क उठी।

वास्तव में इस घटना के अट्ठाइस दिन पहले से चिनगारी फूँस के ढेर के आस-पास मँडरा रही थी जिसके फलस्वरूप नयी दिल्ली में भीषण रूप से सरगर्मी शुरू हो गयी थी।

८ सितम्बर को सैनिक हैड क्वार्टर में प्राप्त हुए एक सिग्नल से ज्ञात हुआ कि उस दिन १४-३० मिनट पर एक चीनी सैनिक दस्ते ने सीमा पार कर ली है और नामका चू नदी और थागला के दक्षिण में ढोला में स्थित हमारी चौकी को घेर लिया है।

उक्त चौकी केवल तीन महीने पहले, जून में ही, हमारी सक्रिय 'अग्रिम-नीति' के अन्तर्गत स्थापित की गयी थी।

भारत सरकार चीनियों की ओर से इतनी तेज प्रतिक्रिया के लिए तैयार नहीं थी। और न भारत सरकार के लिए अब यह सम्भव था कि चीनी उत्पातों का मुँहतोड़ जवाब देने की माँग करने वाले जनमत को टाल सके।

सैनिक हैड क्वार्टर ने तुरन्त ६वें पंजाब बटालियन को ढोला पहुँचने का आदेश दिया। इसके ठीक बाद ही उस प्रदेश में एक पूरे ब्रिगेड को केन्द्रित करने की योजना थी। रक्षा मंत्री कृष्ण मेनन के कार्यालय में हुई एक बैठक में पूर्वी कमान्ड के सेनापति लेफ्टिनेंट जनरल एल० पी० सेन ने बताया कि ढोला में ६०० चीनी सैनिक हैं। उनका अनुमान था कि इस चीनी दस्ते को वहाँ से खदेड़ने के लिए उन्हें पैदल सेना के एक ब्रिगेड की आवश्यकता पड़ेगी और इस ब्रिगेड को ढोला पहुँचाने में दस दिन लगेंगे।*

१२ सितम्बर को सरकार ने आदेश दिया कि चीनियों को ढोला से निकाल दिया जाये। ३३वें कोर कमान्डर लेफ्टिनेन्ट जनरल उमरावसिंह और ४थे डिवीज़न कमान्डर मेजर जनरल निरंजन प्रसाद ने कहा कि जो सैनिक साधन उनके पास हैं उन्हें देखते हुए यह काम पूरा करना असम्भव है। उन्होंने कहा कि जबकि चीनी पूरे तरीक़े से तैयार थे, उनके सामने संभार-तान्त्रिक कठिनाइयाँ थीं, रसद तथा अन्य सैनिक सामग्रियों का अभाव था और फ़ायर समर्थन अपर्याप्त था।

वास्तव में, उमरावसिंह की राय थी कि ऐसा कोई क़दम सिर्फ़ जल्दबाजी का काम होगा। उनका मत था कि ढोला से पीछे हट जाया जाये और तोवांग की रक्षा के लिए साधन केन्द्रित किये जायें। तोवांग, जहाँ भारत का सबसे बड़ा बौद्ध मठ है, सामरिक दृष्टि से ज्यादा महत्त्वपूर्ण था और उसकी स्थिति अच्छी थी।

लेकिन सरकार इस बात पर अड़ी थी कि उसके आदेश का पालन किया जाये।

साथ ही, मज़ाक यह था कि यह नौबत पहुँचने पर भी जब ६वें पंजाब बटालियन के कमान्डिंग अफ़सर, लेफ्टिनेन्ट कर्नल मिश्रा ने इस बात पर स्पष्टीकरण माँगा कि ढोला जाते समय चीनियों से मुठभेड़ होने की स्थिति में क्या किया जाये तो उनसे कहा गया कि वे चीनियों को पीछे हटने के लिए राजी करने की कोशिश करें और शस्त्रों का प्रयोग केवल तभी किया जाये जब ऐसा करना आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक हो और वह भी तब जब चीनी ५० गज से कम फ़ासले पर हों।

---

*इस अध्याय में दिये गये मूल तथ्यों को लेखक ने अधिकतर जनरल कौल की पुस्तक 'अनकही कहानी' से लिया है।

१४ सितम्बर को रक्षा मंत्रालय में हुए एक सम्मेलन में मुख्य सेनापति जनरल थापर ने सरकार को नेफा प्रदेश में सैनिक कार्रवाई के खिलाफ आगाह किया क्योंकि उस प्रदेश में कई असमर्थताएँ थीं।

पश्चिमी कमाण्ड के सेनापति जनरल दौलतसिंह ने जनरल थापर के मत का अनुमोदन किया और स्पष्ट रूप से यह कहा कि यदि लद्दाख में चीनियों ने आक्रमण किया तो उस प्रदेश की रक्षा करने वाली हमारी सेना को वे बिल्कुल नष्ट कर देंगे।

पूर्वी कमाण्ड के सेनापति जनरल सेन ने भी नेफा में स्थित भारतीय सेना की कमजोरी के बारे में स्पष्ट मत प्रगट किया।

लेकिन भारत सरकार अब किसी भी कीमत पर युद्ध करने के लिए तुली हुई थी—जनमत के दबाव से उसे यह स्थिति अपनाने पर विवश होना पड़ा था।

इस प्रकार लगभग आखिरी वक्त पर, पक्ष की चिन्ता किये बगैर, सरकार सेना से सक्रिय होने की माँग कर रही थी और सेना के वरिष्ठ अधिकारी सरकार को यह सलाह दे रहे थे कि सैनिक कार्रवाई में जल्दबाजी करना देश के लिए घातक होगा।

उसी दिन नयी दिल्ली में प्रकाशित एक सरकारी पत्रक ने घोषणा की "भारतीय सैनिक कुमुक के साथ थागला पहाड़ी की तरफ बढ़ गये हैं। नेफा (ढोला) में स्थित हमारी चौकी को सशक्त कर दिया गया है और स्थिति से सफलता से निबटने के लिए पूर्वी कमाण्ड बराबर प्रयत्नशील है।" यहाँ तोपांग के उस ब्रिगेड की ओर संकेत है जो ढोला प्रदेश की ओर बढ़ रहा था लेकिन जो वास्तव में २५ सितम्बर तक ढोला नहीं पहुँचा था।

१८ सितम्बर को एक सरकारी प्रवक्ता ने एक पत्रकार सम्मेलन में यह घोषणा की कि सेना को यह आदेश दे दिया गया है कि ढोला क्षेत्र से चीनियों को निकाल फेंके। (उस समय प्रधान मंत्री, रक्षा मंत्री तथा अर्थ मंत्री तीनों देश से बाहर थे)।

ब्रिगेडियर जे० पी० दलवी २० सितम्बर को ढोला पहुँचे और उन्होंने लेफ्टिनेंट कर्नल मिश्रा से इस विषय पर मशवरा किया कि सरकारी आदेश का पालन कैसे किया जाये। हमारे कमाण्डर अभी इस समस्या पर विचार विमर्श कर ही रहे थे कि उसी दिन आधी रात को एक चीनी दस्ते ने हमारे एक बंकर में एक ग्रेनेड फेंका जिससे तीन सैनिक जख्मी हो गये। दोनों पक्षों के बीच गोलाबारी शुरू हो गयी जिसमें दो चीनी सैनिक मरे और दो जख्मी हुए। इसके बाद गोलाबारी बन्द हो गयी।

इस बीच भारतीय सैनिकों की तरफ मुड़े हुए लाउडस्पीकरों के द्वारा चीनी बराबर यह नारे लगाते रहे ! "हिन्दी-चीनी भाई-भाई। यह जमीन हमारी है।—तुम वापस जाओ।"

इसके बाद दोनों पक्षों के बीच रुक-रुक कर फायरिंग होती रही।

२२ सितम्बर की एक निर्णयक मीटिंग में, जिसका सभापतित्व उपरक्षा मंत्री के रघुरमैया ने किया था (श्री मेनन संयुक्त राष्ट्र की सभा में शामिल होने के लिए गये हुए थे), सरकार ने आग्रहपूर्वक कहा कि राजनैतिक कारणों से इसके सिवाय कोई चारा नहीं था कि चीनियों को ढोला क्षेत्र से निकाल दिया जाये। इस पर मुख्य सेनापति जनरल थापर ने कहा कि यह आदेश उन्हें लिखित रूप में दिया जाये। रक्षा मंत्रालय के सहायक सचिव श्री एच० जी० सरीन के हस्ताक्षर होने के बाद यह आदेश औपचारिक रूप से मुख्य सेनापति को दे दिया गया।

२८ सितम्बर को ढोला क्षेत्र के पुल नं० २ पर चीनियों ने स्वचालित फ़ायरिंग की जिसके फलस्वरूप तीन भारतीय सैनिक ज़ख्मी हुए। अगले दिन, पहली बार, भारतीयों ने ३ इंच मॉर्टर के चार राउंड फायर किये।

३० सितम्बर की रक्षा मंत्रालय की एक बैठक में (जनरल कौल के अनुसार) कृष्ण मेनन ने सैनिक अधिकारियों को यह बताया कि सरकार की नीति यह थी कि सर्दियों के मौसम के कारण सरगर्मियाँ ठंडी होने से पहले नेफ़ा में चीनियों पर एक तगड़ा सैनिक असर डाला जाये।

अतः ३ अक्तूबर को एक विशेष ४थी कोर बनायी गयी और जनरल कौल को उसका कमाण्डर नियुक्त किया गया। उनको यह काम सौंपा गया कि चीनियों को नेफ़ा के भारतीय इलाकों से निकाल दिया जाये।

४थी कोर का कमाण्डर पद सम्हालने के लिए नेफ़ा जाने से पहले एक मुलाकात में श्री नेहरू ने जनरल कौल से कहा कि उन्हें "विश्वास था कि चीनियों को अक़ल आ जायेगी और वे ढोला से हट जायेंगे। लेकिन यदि ऐसा नहीं हुआ तो हमारे पास इसके अलावा कोई रास्ता नहीं है हम उन्हें उन प्रदेशों से निकाल दें या कम से कम भरसक ऐसा करने की कोशिश करें। यदि हमने ऐसा नहीं किया तो, श्री नेहरू ने कहा, "सरकार में जनता का विश्वास बिल्कुल खत्म हो जायेगा।"

४थी कोर का कमान्डर पद सम्हालते ही जनरल कौल परिस्थिति का स्थानीय अध्ययन करने के लिए फौरन ढोला के लिए रवाना हो गये। तीन दिन तक हेलिकॉप्टर में उड़ने और पैदल चलने के बाद वह ढोला की ऊँचाई पर पहुँच पाये।

इधर एक महीने से, नदी के दोनों तरफ़ सगठित चीनी और भारतीय सेनाएँ नमका चू के मुकाबिले में ठनी हुई थीं।

८ अक्तूबर को जनरल कौल स्थानीय कमाण्डरों के साथ बात-चीत कर ही रहे थे कि ४०० गज की दूरी से चीनियों ने स्वचालित राइफल का एक दौर फायर किया। भारतीय पक्ष ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया और घटना जहाँ की तहाँ ठंडी पड़ गयी।

असली घटना दो दिन बाद घटी। १० अक्तूबर को प्रात काल ५०० चीनी सैनिकों के एक दस्ते ने नमका चू के उत्तर में त्से जांग में स्थित हमारी चौकी पर आक्रमण किया। यह चौकी एक दिन पहले ही स्थापित की गयी थी और उस समय चीनियों ने कोई विरोध प्रगट नहीं किया था।

अब तक दोनों पक्षों की यह नीति रही थी कि यदि एक पक्ष कोई चौकी स्थापित करता था तो दूसरा पक्ष उसे स्वीकार कर लेता था—केवल प्रत्युत्तर में किसी और स्थान पर अपनी चौकी खड़ी कर लेता था। इसलिए हमें यह आशा थी कि एक बार यदि हम त्से जांग पर कब्जा कर लेंगे तो चीनी उसका विरोध नहीं करेंगे। लेकिन हम यह भी समझते थे कि यदि चीनी हमारी इस ५० सैनिकों की छोटी-सी टुकड़ी को खदेड़ देने का निश्चय कर लेंगे तो न हम इस बात को रोक सकेंगे और न अपने सैनिकों को सहायता पहुँचा सकेंगे।

फिर भी आक्रमण होने पर, त्से जांग की हमारी सैनिक चौकी ने (जो सुदृढ़ और अच्छी जगह पर स्थित थी) बड़ी बहादुरी से और डटकर मुकाबिला किया। ९वें पंजाब बटालियन का एक और दस्ता सहायता के लिए आ गया और एक ऊँचे स्थान से उसने शत्रु पर गोलाबारी शुरू कर दी। चीनियों को हार खाकर वापस लौटना पड़ा और उनके काफ़ी लोग काम आये।

बाद में, चीनियों ने दूसरी बार और बड़े पैमाने पर तीन तरफ़ से आक्रमण किया। इस बार शत्रु के बहुत बड़ी संख्या में होने के कारण हमारे सैनिकों को अपना स्थान छोड़कर नदी के दक्षिण की तरफ़ हटना पड़ा।

इन दोनों मुठभेड़ों का नतीजा था कि भारतीय पक्ष के छः आदमी मरे, ११ जख्मी हुए और ५ लापता हो गये। पेकिंग रेडियो के अनुसार उनके १०० आदमी मरे।

भारत और चीन के बीच यह पहली सशस्त्र मुठभेड़ थी। इससे यह बात भी स्पष्ट थी कि परिस्थिति गम्भीरतर रूप लेती जायेगी। यह भी जाहिर हो गया था कि अब चीनी इस बात की आशा नहीं देंगे कि भारतीय सैनिक उन सीमान्त इलाक़ों में अपनी चौकियाँ स्थापित करें जिन्हें वे अपना कहते थे।

इस मुठभेड़ का एक महत्त्व यह भी था कि भारत ने चुनौती स्वीकार कर ली थी।

लेकिन दुर्भाग्य की बात यह थी कि ढोला ऐसा उचित स्थान नहीं था जहाँ पैर जमाकर भारतीय सेना शत्रु से टक्कर लेती। जबकि सामने के शिखरों पर शत्रु डटा बैठा था तो हमारी सेनाओं का तलहटी में स्थापित होना सामरिक दृष्टि से कोई माने नहीं रखता था। चीनी थागला पहाड़ी पर १४,५०० फिट की ऊँचाई पर थे और ढोला में स्थित हमारी सेना, उनकी आँखों के ठीक नीचे १२,००० फिट की ऊँचाई पर। यदि हमें उस क्षेत्र में लड़ना आवश्यक था, तो हमें वहाँ से हटकर लुम्पू की ऊँची भूमि पर स्थापित होना चाहिए था।

इस समय नेफ़ा के लगभग ३०० मील लम्बे सीमान्त की रक्षा करने के लिए हमारे केवल दो ब्रिगेड थे—तोवांग में स्थित ७वाँ ब्रिगेड और सुवनसिरि, सियांग तथा लोहित सेक्टरों में बँटा हुआ ५वाँ ब्रिगेड। [डिवीजन का तीसरा ब्रिगेड वहाँ से बहुत दूर इम्फ़ाल (मनीपुर) में स्थित था।]

बात दरअसल यह थी कि हमारी सेना गलती से ढोला में फँस गयी थी और उसके बाद राजनैतिक कारणों से सरकार ने यह फ़ैसला कर लिया था कि यह छोटा-सा दस्ता अपनी जगह पर अटल रहे हालाकि सैनिक अधिकारी इस निर्णय के विरुद्ध थे।

ढोला में फँसे हुए हमारे एक ब्रिगेड के मुकाबिले में चीनियों का पूरा डिवीजन वहाँ स्थित था। जब कि चीनी सेना को, यातायात के अत्यन्त उत्तम साधन और सुविधाएँ होने के कारण, रसद और अन्य सैनिक सामग्री प्रचुर मात्रा में मिल रही थी, हमारा निकटतम रोडहेड ६० मील दूर तोवांग में था और हमारे सैनिकों को रसद की, अस्त्र-शस्त्रों की, गोला-बारूद की, जूतों की और कड़ी सर्दियों के लिए आवश्यक वस्त्रों की कमी थी। ढोला में चीनियों से मुठभेड़ होने से ठीक पहले हमारी दो बटालियनों—२२रा राजपूत और १/६ गुरखा—के पास केवल तीन दिन की रसद और छोटे अस्त्रों के गोला-बारूद के सिर्फ़ ५० राउन्ड थे। मॉर्टर तथा अन्य प्रकार के बम अभी लुम्पू से ढोला की तरफ़ आ ही रहे थे। और उन ऊँचाइयों पर स्थित हमारे सैनिक अभी तक उन्हीं वर्दियों में थे जो केवल गर्मियों के लिए उपयुक्त होती हैं।

ढोला में स्थित हमारी सेना पूरी तरह निर्भर थी हवाई यातायात द्वारा सामान गिराये जाने पर लेकिन यह तरीका कठिन भी था और अनुचित भी। हवा से गिराया हुआ सामान अक्सर गहरी खाइयों में गिर पड़ता था और उसे वहाँ से लाना असम्भव था। एक बार तो ऐसा हुआ कि त्सांगदर पर हवाई तौर पर गिराई हुई तोपें, जिनकी बहुत ही सख्त जरूरत थी, पैराशूटों के वक्त पर न खुलने के कारण भूमि पर गिरने के बाद टुकड़े-टुकड़े हो गयीं।

सारी स्थिति को वहाँ पर अच्छी तरह देख लेने के बाद, नयी कोर के कमान्डर जनरल कौल डिवीजनल कमान्डर निरंजन प्रसाद और ब्रिगेड

कमाण्डर दलवी से पूरी तरह सहमत हुए कि ढोला क्षेत्र से शत्रु को निकालने के लिए सरकारी आज्ञा अव्यावहारिक है।

११ अक्तूबर को जनरल कौल नयी दिल्ली वापस पहुँचे और उन्होंने एक बैठक में (जिसमें रक्षा मंत्री और मुख्य सेनापति भी थे) श्री नेहरू को ढोला की गंभीर स्थिति बतायी।

जनरल कौल ने इस बैठक में स्पष्ट रूप से कहा कि ढोला में प्रतिकूल स्थिति में पड़ी हुई, छोटी-सी और साधनहीन सेना के लिए यह असम्भव है कि वह सरकारी आदेश का पालन करे। उन्होंने आग्रहपूर्वक यह कहा कि ढोला में हमारी सेना की स्थिति पूरी तरह अनुचित है, कि वह ऐसी तलहटी में पड़ी हुई है जहाँ से किसी भी प्रकार का युक्तिचालन असम्भव है और इसके ऊपर चीनी एक ऊँची, अनुकूल स्थिति में डटे हुए हैं। सामरिक और समार तांत्रिक दृष्टि से चीनी ज्यादा अच्छी स्थिति में थे और मुठभेड़ होने पर उनकी जीत होनी निश्चित थी। वास्तव में, जनरल कौल की राय थी कि हमारी सेना को वहाँ से हट कर सामरिक दृष्टि से किसी ज्यादा अनुकूल स्थान पर पैर जमाने चाहिए।

काफी वादविवाद के बाद श्री नेहरू इस बात पर तैयार हुए कि 'चीनियों को निकालने' का आदेश बदल कर यह आदेश दिया जाये कि ढोला में स्थित हमारी सेना चीनियों के विरोध के बावजूद अपने स्थान पर डटी रहे। यह बदला हुआ आदेश ढोला भेज दिया गया।

आदेश में इस परिवर्तन को देखते हुए हमारे अग्रिम मोर्चे के कमाण्डर अवश्य चकित हुए होंगे जब १३ अक्तूबर को उन्होंने रेडियो पर पत्रकारों को दिया गया श्री नेहरू का वक्तव्य सुना होगा।

उस दिन सुबह, पालम हवाई अड्डे पर, कोलम्बो जाते समय श्री नेहरू ने पत्रकारों से कहा कि इस बात के लिए आदेश जारी कर दिए गये हैं कि चीनियों को नेफा में 'हमारी भूमि' से निकाल दिया जाये। स्पष्टीकरण के लिए पूछे गये एक अतिरिक्त प्रश्न के उत्तर में प्रधान मंत्री ने कहा, "इसकी तिथि मैं निश्चित नहीं कर सकता। इस बात का फैसला करना पूरी तरह सेना के हाथ में है।"

श्री नेहरू के इस कथन से, उस समय, देश-विदेश में भीषण वाद विवाद खड़ा हो गया। और जनरल कौल ने अपनी पुस्तक 'अनकही कहानी' में पाँच वर्ष बाद वाद विवाद की लपटों को फिर से भड़का दिया।

श्री नेहरू पर यह आरोप लगाया गया कि अपने इस कथन में उन्होंने झूठ बोला था। आरोप लगाने वालों ने उनके १३ अक्तूबर को पत्रकारों को दिये गए कथन का सीधा सम्बन्ध उस निर्णय से लगाया जो ११ अक्तूबर की

अर्द्धरात्रि की बैठक में लिया गया था। इस बैठक में चीनियों को ढोला से बाहर निकालने के मूल आदेश को बदल दिया गया था और नया सरकारी आदेश यह था कि ढोला में स्थित भारतीय सेना चीनी विरोध के बावजूद अपने स्थान पर डटी रहे।

मेरे विचार से प्रधानमंत्री के १३ अक्तूबर के कथन को ११ अक्तूबर के निर्णय के आधार पर झूठ कहना अनुचित है क्योंकि श्री नेहरू का शेष कथन भी ध्यान में रखना चाहिए : "इसकी तिथि मैं निश्चित नहीं कर सकता। इस बात का फ़ैसला करना पूरी तरह सेना के हाथ में है।"

प्रत्यक्ष है कि यदि उनके मन में ढोला की सीमित समस्या होती (जिसके बारे में ११ अक्तूबर को बहस हो चुकी थी) तो वे अनिश्चित रूप से यह नहीं कहते कि चीनियों को बाहर निकालने की तिथि को निश्चित करने की बात सेना के हाथ में है। यहाँ यह बात समझ लेना आवश्यक है कि ११ अक्तूबर का निर्णय केवल ढोला में स्थित हमारी सेना के सामने उपस्थित समस्या के बारे में था। और हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि पत्रकारों के सामने १३ अक्तूबर को दिया गया श्री नेहरू का कथन मात्र एक राजनैतिक कथन था जो इसलिए महत्त्वपूर्ण था कि उसके द्वारा भारत सरकार ने पहली बार (भले ही आतुर जनमत के दबाव के वश) यह घोषित किया था कि अब से वह अपनी भूमि पर चीनी अतिक्रमणों को सहन नहीं करेगी और सशस्त्र रूप से शत्रु का मुक़ाबला करेगी।

क्योंकि १३ अक्तूबर के सामान्य कथन का ११ अक्तूबर के निर्णय से कोई सम्बन्ध नहीं था इसलिए कथन में कोई झूठ नहीं था। यूँ ११ अक्तूबर का बदला हुआ आदेश—कि हमारी सेना ढोला में डटी रहे या यदि सामरिक कारणों से आवश्यक हो तो वहाँ से हट भी जाये—समस्या को वक़्ती तौर पर राजनयिक ढंग से हल करने का तरीक़ा भी हो सकता था जो भारत सरकार की इस नीति का अंग था कि अब से वह चीनियों का मुक़ाबला करेगी।

श्री नेहरू के कथन की संदिग्धता वास्तव में खेदजनक है विशेषतः ऐसे समय पर जब राज्य के प्रमुख के कथनों में स्पष्टता तथा सावधानी की विशेष आवश्यकता थी। लेकिन मैं इस आरोप का समर्थन क़तई नहीं कर सकता कि श्री नेहरू ने जान-बूझकर झूठ बोला। श्री नेहरू में कम से कम इतना विवेक अवश्य था कि ऐसा कोई वक्तव्य न दें जो घटनाओं से झूठ साबित हो जाये।

श्री नेहरू ने जानबूझकर एक संदिग्ध वक्तव्य दिया था और इसके पीछे उनके दो उद्देश्य थे : एक तो आतुर जनमत को बहलाना; दूसरे, चीनियों को जतला देना कि भारत सरकार की नीति बदल गयी है और यदि वे अपने अतिक्रमणों से बाज़ न आये तो आगे से भारत उनका सशस्त्र रूप से विरोध करेगा।

हो सकता है कि अपने सहज स्वभाव के कारण श्री नेहरू ने यह समझा हो कि इस आम घोषणा द्वारा प्रगट भारत सरकार के इस सैन्यवादी दृष्टिकोण से चीन प्रभावित हो जायेगा और हमारे सीमान्त पर अपने उत्पातों को बन्द कर देगा।

यह धारणा इस बात को देखते हुए सही हो सकती है कि श्री नेहरू को अन्त तक यह विश्वास था कि चीनी केवल बन्दर-घुड़की की नीति का प्रयोग कर रहे हैं और सीमान्त की समस्याओं को हल करने के लिए व कभी भारत पर आक्रमण नहीं करेंगे। वास्तव में यह विश्वास किया जाता है कि कुछ ही महीने पहले भारत के रक्षा मन्त्री और चीनी प्रधान मन्त्री जेनेवा में मिले थे तो चाऊ इन लाई ने श्री नेहरू को (कृष्ण मेनन द्वारा) यह आश्वासन दिया था कि चीन कभी भारत पर आक्रमण नहीं करेगा।

यह आरोप लगाना भी गलत होगा कि श्री नेहरू के १३ अक्तूबर के कथन के कारण ही चीनियों ने २० अक्तूबर को भारत के उत्तरी सीमान्त पर बड़े पैमाने पर आक्रमण किया था। क्योंकि इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि चीनी काफी समय से २,६०० मील लम्बे भारत-तिब्बत सीमान्त पर शक्ति सचित कर रहे थे, इस उद्देश्य से कि वे एक दिन भारत पर आक्रमण करेंगे। चीनी यथार्थवादी थे और व जानते थे कि उनकी स्पष्ट विस्तारवादी नीति के फलस्वरूप झगड़ा होना निश्चित है।

सन् १९५५ से सीमान्त के तिब्बत वाले भाग में सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सड़कों के बनाने का काम शुरू हो गया था। उस समय नयी दिल्ली और पीकिंग में यह नारा बुलन्द था "हिन्दी चीनी भाई-भाई"। मैक्महोन रेखा के तनिक उत्तर में उन्होंने एक उत्तम ३-टनी सड़क बना ली थी और इसके अलावा उससे मिलने वाली सहायक-सड़कों का जाल बिछा दिया था। नेफा के कामेंग मण्डिवीजन और भूटान के काफी निकट थुम ला से ५० मील दूर त्सायुमत्सो में उन्होंने एक हवाई अड्डा भी बना लिया था।

अक्तूबर १९६२ तक केवल नेफ़ा के सामने ही चीनियों के चार डिवीजन स्थित थ। इसके विपरीत उस इलाके में हमारा सिर्फ एक डिवीजन था—और उसमें भी एक ब्रिगेड कम था। सन् १९५९ से चीन के बराबर बढ़ते हुए उत्पातों से यह स्पष्ट था कि भारत के प्रति चीन की नियत खराब है।

कई वर्षों से लद्दाख में चीन की स्पष्टत यह नीति थी कि निश्चित रूप से हमारी भूमि पर अतिक्रमण करते हुए स्वयं निर्धारित सीमा तक बढ़ते जायें। और चीनियों द्वारा निर्धारित यह सीमा रेखा उनके हर नये मानचित्र के साथ हमारी भूमि पर आगे खिसकती ही जाती थी।

सन् १९६२ के मध्य तक हमारी निश्चेष्टता के कारण चीन की 'अग्रिम' नीति शांतिपूर्ण ढंग से काम करती रही और उन्होंने कभी भी शस्त्रों का

प्रयोग करना आवश्यक नहीं समझा। लेकिन जून १९६२ में भारत ने भी अपनी सक्रिय 'अग्रिम नीति' चालू कर दी थी और इसके फलस्वरूप सशस्त्र झगड़ा होना निश्चित था—इसके लिए चीनी काफ़ी समय से तैयार थे।

गुप्त सूचना विभाग की रिपोर्ट के अनुसार अक्तूबर १९६२ के खुले सशस्त्र झगड़े से पहले चीनियों ने छः और बटालियन भारत-तिब्बत सीमा पर पहुँचा दिये थे। पूरे तिब्बत में चीनियों के आठ डिवीज़न थे। इनमें से लगभग सात डिवीज़न दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिमी सीमान्त इलाक़ों में स्थित थे।

इसके अतिरिक्त सिक्यांग के दो रेजिमेंट (४००० सैनिक) उत्तरी लद्दाख के सामने स्थित थे। दक्षिण लद्दाख तथा पंजाब-हिमाचल प्रदेश-उत्तर प्रदेश सीमा पर चीनियों के सात बटालियन डटे हुए थे।

२० अक्तूबर के विशाल चीनी आक्रमण के लगभग एक सप्ताह पहले से थागला क्षेत्र में चीनियों ने तेज सरगर्मी शुरू कर दी थी। पशुओं पर लादकर वे अपनी तोपें उस क्षेत्र में ले आये और ढोला में स्थित हमारी सेना की तरफ़ उनका रुख करके उन्हें स्थापित कर दिया। उस समय हमारी सेना के पास एक भी तोप नहीं थी।

जिस समय चीनियों ने, विशाल पैमाने पर, लद्दाख और नेफ़ा पर एक साथ आक्रमण शुरू किया उस समय भारतीय सैनिक अधिकारी मोर्चा लेने के बजाय, इस बात पर बहस कर रहे थे कि संख्या में अधिक, साधनों में उत्तम शत्रु का मुक़ाबिला करने की माँग करने वाले सरकारी आदेश का पालन कैसे किया जाये। और अपनी सैनिक संख्या की कमी तथा शस्त्रों और साधनों की तात्कालिक अपर्याप्तता को देखते हुए उन्होंने एकमत होकर यह कह दिया था कि शत्रु का सामना करना असम्भव है।

६

असीम अपमान

सितम्बर १९६२ के बाद अन्धा आदमी भी यह देख सकता था कि चीन आक्रमण करने पर आमादा है और युद्ध में पूर्ण सफलता प्राप्त करने की तैयारी कर रहा है।

१३ सितम्बर को एक चीनी पत्र ने कड़े तौर पर यह माँग की कि १५ अक्तूबर को दोनों देशों में समझौते की बात हो और दोनों देशों की सेनाएँ सीमान्त पर २० किलोमीटर पीछे हट जायें ताकि तनाव कम हो जाये। इस पत्र में भारत पर यह आरोप लगाया गया कि वह झूठे समझौतों और सशस्त्र झगड़ों की दुमुँही नीति से काम ले रहा है और भारत सरकार सीमा समस्या को शान्तिपूर्ण ढंग से नहीं सुलझाना चाहती है बल्कि 'समझौते की आड़ में चीनी भूमि पर अतिक्रमण करना चाहती है और सीमा की यथापूर्व स्थिति को भंग करना चाहती है।"

पेकिंग द्वारा ऐसी भाषा का प्रयोग अजीब था हालांकि अपने राजनयिक पत्र व्यवहार में वे हमेशा ही अनियंत्रित भाषा का प्रयोग करते रहे थे। इस पत्र से स्पष्ट था कि चीन शुरू से यह जानता था कि भारत उसके इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करेगा।

जैसा स्पष्ट था, भारत सरकार ने १९ सितम्बर को चीन के इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया क्योंकि चीनियों के इस पत्र के बावजूद 'आक्रामक पक्ष का अधिकार अभी तक उसके द्वारा अनधिकृत ढंग से प्राप्त की हुई जमीन पर है।' वास्तव में, भारत ने पहली बार चीन को 'आक्रामक' करार दिया था।

१७ सितम्बर को चीनियों की एक बटालियन दम दम ला पहुँच गयी। यह स्थान त्सांगली (जो थागला के रास्ते में भूटान, तिब्बत और भारत के बीच

एक मार्के का स्थान है) में हमारी चौकी के सामने था। अगले दिन, दम दम ला से एक चीनी गश्ती दस्ता ढोला क्षेत्र में पुल नं० ५ की ओर बढ़ा; भारतीय सैनिकों ने उस दस्ते पर गोली चलायी जिसमें एक चीनी काम आया।

१६ अक्तूबर को त्सांगधर में हमारी चौकी ने खबर दी कि २,००० सैनिकों का एक चीनी दस्ता त्सांगली से थागला की तरफ़ बढ़ रहा है। उसी शाम यह देखा गया कि एक चीनी वरिष्ठ सैनिक अधिकारी जीप द्वारा अपने सीमान्त के पीछे जा रहा है—स्पष्ट था कि आक्रमण करने से पहले वह अपने सैनिकों और स्थितियों का मुआइना कर रहा था। वास्तव में अक्तूबर १५ से १६ तक चीनी सीमा के पीछे काफ़ी सरगर्मी देखी गयी।

ढोला क्षेत्र में स्थित ७वें ब्रिगेड के कमान्डर, ब्रिगेडियर दलवी ने मुझे बताया कि अप्रैल, १९६२ से ही चीनी युद्ध के लिए इतनी पूरी तरह तैयार थे कि नेफ़ा में स्थित उनकी सेना के साथ फ़ोटोग्राफ़रों और दुभाषियों की एक टोली भी थी।

ब्रिगेडियर दलवी ने बताया कि : "जबकि साधारण सैनिक सिद्धांतों के अनुसार आक्रमण के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि शत्रु से अपनी संख्या तीन गुनी हो, माओ के अनुसार यह अनुपात ५ : १ होना आवश्यक था। इसी अनुपात को पूरा करने के लिए चीनियों ने नेफ़ा मे अपनी सैनिक संख्या बढ़ाने का कार्य जारी रखा जिसके फलस्वरूप उनके लिए यह सम्भव हो सका कि वे, एक के बाद एक सैनिकों के रेले युद्ध में डाल सके।" ब्रिगेडियर दलवी के अनुसार, अक्तूबर १९६२ तक नेफ़ा मोर्चे के कामेंग सेक्टर में चीनियों की सैनिक संख्या १०,००० हो गयी थी।

२० अक्तूबर को जब चीनियों ने नेफा मोर्चे पर जोरदार आक्रमण किया तो, अन्य अपर्याप्तताओं के अलावा, भारतीय सेना के पास कोई कोर कमान्डर नहीं था जो हमारी सेना की युद्ध कार्रवाइयों को निर्देशित और संगठित करता। जनरल कौल को ऐन मौके पर दिल्ली पहुँचना पड़ा था क्योंकि उन्हें एडीमा नामक ऐसी बीमारी हो गयी थी जो ख़ास तौर से ऊँचाइयों पर ही होती है।

डी-दिवस को सुबह साढ़े चार बजे 'चीनी सैनिकों का एक सैलाब' ढोला में हमारी चौकी पर टूट पड़ा। इन दो चीनी बटालियनों (२,००० सैनिकों) के पास स्वचलित राइफ़लें, ६ मिलीमीटर तोपें, भारी मॉर्टर और अन्य किस्म के गोला-बारूद थे। आधी दर्जन भारतीय स्थितियों की रक्षा करने के लिए केवल ६०० सैनिक थे।

चीनी सैनिक सैलाब के सामने हमारे सैनिक प्रतिष्ठान बात की बात में उखड़ गये। ढोला में स्थित हमारी मुख्य चौकी नष्ट हो गयी। लगभग इसके

साथ ही ढोला से दस मील पूर्व खिंजेमान पर भी चीनियों ने कब्ज़ा कर लिया। त्साली में स्थित हमारा छोटा-सा दस्ता हट कर भूटान चला गया। अगले दिन सुबह तक हाथुंग ला शत्रु के हाथों में था।

अगले दिन सुबह पाँच बजे चीनियों ने त्सागधर में स्थित हमारे ७वें ब्रिगेड हेडक्वार्टर पर आक्रमण किया और भीषण गोलाबारी की। भारतीय दस्ते ने भी गोलाबारी की लेकिन शीघ्र ही उनके पास गोले चुक गये। शत्रु की विजय हुई और उसने ब्रिगेडियर दलवी तथा अन्य अधिकारियों को पकड़ लिया।

डिवीज़नल हेडक्वार्टर द्वारा भेजा हुआ एक हेलीकॉप्टर एक वायरलेस सेट तथा एक सिग्नल अधिकारी के साथ उस समय त्सागधर में उतरा जब चीनियों ने उस पर कब्ज़ा कर लिया था। हेलीकॉप्टर का चालक गोली का शिकार हुआ और हेलीकॉप्टर पर शत्रु ने अपना अधिकार कर लिया।

अब तक नमका चू के सामने चीनियों का एक पूरा डिवीज़न तैयार था और ढोला से खिंजेमान तक दस मील के मोर्चे पर डटा हुआ था। इसके फलस्वरूप हमारी प्रतिरक्षा रेखा छिन्न-भिन्न होकर जीर्ण हो गयी थी और हमें अपने दस्तों को पुनः संगठित करना असम्भव हो गया था।

इसी बीच जिस चीनी दस्ते ने खिंजेमान पर कब्ज़ा किया था वह पूर्व में कुछ मील और आगे बढ़ गया और उसने बुम ला नामक भारतीय सीमान्त नगर पर कब्ज़ा कर लिया। यहाँ सिक्ख सैनिकों ने डट कर शत्रु का मुकाबिला किया था और शत्रु के काफ़ी सैनिक काम आये थे लेकिन शत्रु की सैनिक संख्या बहुत अधिक होने के कारण हमारे वीर सैनिकों को यह चौकी छोड़कर हटना पड़ा था।

बुम ला तोवांग से ठीक छः मील उत्तर में है। बुम ला की ऊँची स्थिति पर कब्ज़ा कर लेने के कारण चीनियों के लिए तोवांग पर आक्रमण करना आसान हो गया। और २१ अक्तूबर को लुम्पू के पतन के बाद, सारे ढोला-थागला क्षेत्र से हमारा सम्पर्क खत्म हो गया।

यह सारे स्थान बात की बात में दुश्मन के हाथों में चले गये थे। और २२ अक्तूबर को चीनी तोवांग पर आक्रमण करने को तैयार थे।

इसके अलावा कि तोवांग में भारत का सबसे विशाल बौद्ध-मठ था, यह नगर इस सारे प्रदेश का प्रशासकीय केन्द्र था, सेना के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण रोड-हेड था और हमारी प्रतिरक्षा रेखा—तोवांग-से ला—बोमदी ला-तेजपुर में सबसे मार्के का स्थान था।

हमारे पीछे हटे हुए सैनिक काफ़ी सुव्यवस्थित हालत में तोवांग पहुँचे थे। ब्रिगेडियर दलवी की अनुपस्थिति में उस क्षेत्र के आर्टिलरी कमांडर

ब्रिगेडियर (अब मेजर जनरल) कल्याणसिंह ने भारतीय सैनिक दल का नेतृत्व अपने हाथ मे लिया और तोवांग की प्रतिरक्षा का कार्य सम्हाला। इस अवसर पर अद्भुत वीरता और नेतृत्व के गुणो का परिचय देने के कारण ब्रिगेडियर कल्याणसिंह को विशिष्ट सेना पदक प्रदान किया गया।

चीनियों ने तीन तरफ़ से— पश्चिम, उत्तर और पूर्व से—तोवांग पर आक्रमण किया। त्सांगधर में ब्रिगेड हैडक्वार्टर के पतन और हमारी सेना के काफ़ी हद तक नष्ट होने के कारण तोवांग की प्रतिरक्षा काफ़ी कमज़ोर हो गयी थी। कल्याणसिंह उस समय तक अपने स्थान पर डटे रहे जब तक उनके गैरिसन को पाँच मील पूर्व, जांग, तक हटने का आदेश नहीं मिला। पीछे हटनेवाला भारतीय दस्ता काफ़ी रसद तथा अन्य सामग्री वहीं छोड़ आया था।

कोर कमान्डर जनरल कौल के दिल्ली में बीमार पड़े होने की वजह से पूर्वी कमान्ड के सेनापति लेफ़्टिनेन्ट जनरल सेन ने तोवांग में आकर कार्य-भार सम्हाला। उन्होंने आदेश दिया कि तोवांग गैरिसन अपनी वर्तमान स्थिति से हटकर जांग के दक्षिण में चला आये क्योंकि इस बात का खतरा था कि शीघ्र ही चीनी उसे चारों तरफ़ से घेर लेंगे।

अतः २५ अक्तूबर को शत्रु ने बिना किसी विरोध के तोवांग पर अधिकार कर लिया। उसके बाद हमारी सेना जांग से खदेड़ दी गयी और उसने स्से ला में शरण ली। थके हुए, निराश तोप-सैनिक जांग छोड़ कर एक पतले से जीप मार्ग पर तोपों को ढकेलते हुए पीछे हटे।

इसी बीच २२ अक्तूबर को चीनियों ने नेफ़ा मोर्चे के सुदूर पूर्व में एक नया मोर्चा खोल दिया। लोहित सीमान्त डिवीजन में लोहित नदी के नीचे वे किबीटू की तरफ बढ़े—उनकी आँख वालोंग पर लगी हुई थी। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि यह केवल हमारी सेना के एक टुकड़े को नष्ट करने की ही तरकीब है।

× × ×

जहाँ तक नेफ़ा का प्रश्न था, चीनी आक्रमण का पहला दौर २५ अक्तूबर को ख़त्म हो गया।

लेकिन साथ ही साथ, २० अक्तूबर को चीनियों ने लद्दाख में हमारी सैनिक स्थितियों पर आक्रमण बोल दिये थे। किन्तु लद्दाख में युद्ध का तरीका भिन्न था। नेफ़ा में वे भूमि तथा सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण दर्रों पर कब्ज़ा करने के लिए लड़ रहे थे। लद्दाख में संघर्ष था एक-दूसरे से दूर पर स्थित तथा सब ओर से कटी हुई चौकियों पर क़ब्ज़ा करने के लिए। इनमें से किसी चौकी पर तीस-चालीस सैनिक से अधिक नहीं थे और भारतीय तथा चीनी

चौकियाँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई थीं। चीनी करते यह थे कि मुकाबिले में कहीं अधिक सैनिकों को लेकर वे हमारी चौकी को घेर लेते थे और फिर या तो काट से भारतीय गैरिसन को वहाँ से निकाल देते थे या अन्त तक युद्ध कर के उसे पूर्णत नष्ट कर देते थे।

भूमि पर संचार व्यवस्था बिल्कुल न होने के कारण हमारी इन चौकियों को पूरी तरह हवाई-समरण पर निर्भर रहना पड़ता था और इसलिए आक्रमण होने की हालत में यह कमजोर और असहाय थीं। इसके विपरीत चीनी चौकियों के पीछे सारे पूर्वी लद्दाख में बिछा हुआ ८०० मील की लम्बाई का सड़कों का जाल था जिसके कारण उनके सामने कोई संचार समस्या नहीं थी।

इसके अलावा चीनियों के पास इस इलाके में रूस में बने पी—७० टैंकों के दो स्क्वाड्रन थे। चुशुल सेक्टर में सिरिजाप पर आक्रमण करते समय चीनियों ने बख्तरबन्दी में अपनी इस उत्तमता का प्रयोग अत्यन्त घातक ढंग से किया।

पहले ही दिन, उत्तरी सेक्टर में, उन्होंने लाइन से १६ में से ११ भारतीय चौकियों पर हमला किया।

कराकोरम के ठीक नीचे दौलत बेग ओल्डी उत्तर में सबसे दूरस्थ भारतीय चौकी थी। संचार के मामले में यह चौकी सब तरफ़ से कटी हुई थी और पूरी तरह हवाई-समरण पर निर्भर थी। चीनी सड़कों में से एक काराकोरम की सड़क कराताश दर्रे से ओल्डी की तरफ़ जाती है। चीनी इसी सड़क से आये और उन्होंने ओल्डी पर आक्रमण किया। चीनी सैनिक भारतीयों से दस गुना ज्यादा थे फिर भी ओल्डी के भारतीय रक्षक वीरता से लड़ते रहे। २३ अक्तूबर को उन्हें आदेश मिला कि वे ओल्डी को छोड़कर पीछे हट जायें।

अगले दो दिनों में बिन्दु १८४५० तथा गल्वान में स्थित हमारी चौकियाँ भी दुश्मन के हाथ चली गयीं।

दौलत बेग ओल्डी से हमारी सेनाओं के हटने के कारण कराकोरम दर्रे के दोनों ओर चीनियों का प्रभुत्व हो गया और युद्ध-क्षेत्र में पहुँचने के लिए उन्हें एक और महत्त्वपूर्ण मार्ग मिल गया। इसका अर्थ यह भी था कि कराकोरम दर्रे से दमचोक तक उत्तर-पूर्वी लद्दाख पर चीनियों का अधिकार हो गया है।

चिप चाप नदी के दक्षिण में एक भारतीय चौकी के ३० जवानों ने मारे दिन ४०० चीनी सैनिकों का मुकाबिला किया—मुकाबिले के अन्त में केवल ४ भारतीय जवान जीवित बचे थे, कहा जाता है कि चीनियों के १५० सैनिक काम आये। सारे लद्दाख में भारत-चीन सशस्त्र संघर्षों में लगभग ऐसा ही कुछ हुआ था।

मध्य सेक्टर में चीनियों ने हमारे सैनिकों को कोंग का और चेंग चेनमो से निकाल दिया। एनी ला तथा चार्तसे से फोबांग तक भारतीय सैनिक अपने आप पीछे हट गये।

२४ अक्तूबर को युला पर कब्ज़ा कर लेने के कारण, केवल ४८ घंटों में पूरा उत्तरी लद्दाख चीनियों की मुट्ठी में आ गया था। २७ अक्तूबर को छांग ला, जारा ला, दम चॉक, दक्षिण सेक्टर मे नल्ला जंकशन तथा मध्य सेक्टर में हॉट स्प्रिंग में स्थित हमारी चौकियों पर या तो शत्रु ने कब्ज़ा कर लिया या हमारे सैनिक उन्हें छोड़कर स्वयं पीछे हट गये।

फिर भी लद्दाख में भारतीय सेना का अपयान काफ़ी व्यवस्थित ढंग से हुआ हालांकि शत्रु के संख्या में कई गुना होने के कारण उन्हें बराबर ही पीछे हटते रहना पड़ा था। इस व्यवस्थित अपयान तथा ज्यादा जमकर शत्रु का मुकाबिला करने का कारण यह हो सकता है कि लद्दाख में स्थित भारतीय सेना उस प्रदेश में काफ़ी समय से थी और इसलिए वहाँ की जलवायु तथा भूमि विशेषताओं की आदी हो चुकी थी। उसकी युद्ध-तत्परता भी तुलनात्मक रूप से अधिक थी और उसके नेता अधिक कुशल थे।

इसके बाद चीन ने आक्रमण करने बन्द कर दिये और इस बीच में कि दूसरे दौर के लिए वे अपनी सेना और साधनों को पुनः व्यवस्थित करें, उन्होंने फिर समय भरने के लिए शान्ति का नाटक किया। २४ अक्तूबर को पेकिंग ने नेहरू-चाउ वार्ता का प्रस्ताव रखा।

इस प्रस्ताव के तीन अंग थे: (१) कि दोनों पक्ष हिमालय के सीमान्त के दोनों सिरों पर 'वास्तविक अधिकार रेखा' के २० किलोमीटर पीछे हट जायें; (२) कि दोनों उस रेखा का उल्लंघन न करने का वचन दें और (३) सीमा समस्या का समझौता 'मैत्रीपूर्ण ढंग' से करने के लिए पेकिंग में या यदि श्री नेहरू चाहें तो नयी दिल्ली में नेहरू-चाउ वार्त्ता हो।

ऐसा ही एक प्रस्ताव चाउ इन-लाई ने १३ अक्तूबर को रखा था जिसे भारत ने उसी समय रद्द कर दिया था इसलिए कि दोनों में सीमा सम्बन्धी समझौते की वार्त्ता केवल तभी होना सम्भव था जब पहले चीनी सेनाएँ उन प्रदेशों से हट जायें जिनके बारे में झगड़ा था और युद्धपूर्व यथास्थिति पैदा हो जाये। अब और भी सशक्त स्थिति से चीन ने यह प्रस्ताव दोहराया था और वह आशा करता था कि आहत और परेशान भारत उसके इस प्रस्ताव को अब स्वीकार कर लेगा।

भारत सरकार ने उसी दिन इस दूसरे प्रस्ताव को भी रद्द कर दिया यह कह कर कि बात-चीत तभी सम्भव है जब चीनी सेनाएँ ८ सितम्बर, १९६२ की स्थितियों पर वापस लौट जायें। साथ ही यह भी आग्रहपूर्वक कहा गया

कि भारत हमेशा मैत्रीपूर्ण ढंग से समस्याओं को हल करने का इच्छुक है लेकिन ऐसा वह केवल 'शील और आत्म-सम्मान' के आधार पर ही कर सकता है, तब नहीं जब शत्रु की सेनाएँ उसकी भूमि पर डटी हों।

श्री नेहरू ने चाउ इन-लाई को लिखा "आपने अपने पत्र में अपनी तरफ से ही यह बात मान ली है कि भारत पर चीनी आक्रमण द्वारा निर्धारित की हुई 'वास्तविक अधिकार रेखा' को स्वीकार करके युद्ध-विराम वार्ता की जाये और यूँ भूमि पर इस अनधिकृत स्थिति को पक्का करने के बाद, सीमा समस्या पर दोनों प्रधान मन्त्रियों के बीच समझौते की बात हो। संक्षेप में आपके प्रस्ताव का यह मतलब हुआ कि चीन आक्रमणों द्वारा प्राप्त की हुई भारतीय भूमि को अपने अधिकार में रखना चाहता है और बाकी के बारे में समझौता करने को तैयार है यह एक ऐसी बात है जिसे भारत कभी स्वीकार नहीं करेगा भले ही इसका नतीजा कुछ भी हो और हमें कितना भी बड़ा संघर्ष क्यों न करना पड़े इसके अलावा कुछ भी करने का मतलब होगा एक आक्रामक, विस्तारवादी और दर्पपूर्ण पड़ोसी के रहम पर ज़िन्दा रहना।"

उल्टे, श्री नेहरू ने चाउ को प्रस्ताव दिया "यदि चीन वास्तव में अपने इस शांतिपूर्ण प्रस्ताव में विश्वास रखता है और मैत्रीपूर्ण ढंग से सीमा समस्या को हल करना चाहता है तो उसे चाहिए कि पहले सारे सीमान्त पर अपनी सेनाओं को कम से कम उन स्थितियों तक हटा लें जहाँ वे ८ अक्तूबर १९६२ से पहले थीं। उसके बाद ही भारत किसी भी आपसी तौर पर तय किये गये स्तर पर बातचीत करने को तैयार होगा और तभी पारस्परिक रूप से ऐसे तरीके निश्चित किये जा सकेंगे जिनसे तनाव कम हो और एक तरफा रूप से शक्तिपूर्वक परिवर्तित की हुई पूर्व स्थिति को फिर से ठीक किया जा सके।"

२६ अक्तूबर को श्री नेहरू ने विभिन्न राज्यों के प्रमुखों को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने कहा कि उक्त चीनी प्रस्ताव मात्र एक छिपी हुई धमकी है जिसके द्वारा भारत को, सीमा के प्रश्न पर, चीन द्वारा निर्देशित समझौते को स्वीकार करने के लिए विवश करने का प्रयत्न किया जा रहा है। श्री नेहरू के इस पत्र में स्पष्ट किया कि चीन ने सन् १९५७ से तब तक लद्दाख में १२,००० वर्ग मील भारतीय भूमि पर कब्जा कर लिया था, कि चीनी सेना ने ८ सितम्बर, १९६२ को पहली बार पूर्वी सेक्टर में अन्तर्राष्ट्रीय सीमा को पार किया था और २० अक्तूबर का विशाल चीनी आक्रमण पिछले कई अतिक्रमणों का चरम रूप था।

साथ ही सशस्त्र संघर्षों के बीच इस मध्यान्तर को दोनों पक्ष, दूसरे दौर के लिए, अपने अपने सैन्य-साधनों को तेजी से परिवर्द्धित तथा संगठित करने के लिए इस्तमाल कर रहे थे।

चीनी बड़ी तेजी से सीमान्त पर थुम ला से तोवांग तक एक १५ मील लम्बी सड़क बनाने में व्यस्त थे। चट्टानों को बारूद से उड़ाने की आवाज सीमा के इस पार स्थित भारतीय सैनिक सुन सकते थे। हमारे हवाई सर्वेक्षकों ने इस अधबनी सड़क पर रेंगते हुए कुछ धब्बे भी देखे जो उनके ख्याल से भारवाहक याक थे लेकिन वास्तव में वे सैनिक ट्रक थे।

भारत ने इस नकली युद्ध-विराम का प्रयोग किया से ला को एक अभेद्य दुर्ग का रूप देने में। हमारा इरादा था कि इस अपराजेय स्थिति में जमकर हम चीनियों के दाँत खट्टे कर देंगे और दक्षिण के इस प्रवेश द्वार की सफलतापूर्वक रक्षा करेंगे।

अनुमान है कि युद्ध के पहले दौर में भारतीय पक्ष के २०००-२५०० सैनिक या तो युद्ध में काम आये या गायब हो गये। २० अक्तूबर के बाद से चीनी १३ बिन्दु आगे बढ़ गये थे और वे लद्दाख के दो सेक्टरों में उस भूमि पर पहुँच गये थे जिस पर उन्होंने स्वयं भी कभी दावा नहीं किया था। उस काल में चीनियों ने लद्दाख में ३००० वर्ग मील भारतीय भूमि पर कब्जा कर लिया था। इसके अतिरिक्त, धीरे-धीरे १९५७ से तब तक, वे सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण १२००० वर्ग मील पर्वतीय भूमि पर भी कब्जा कर चुके थे।

उस समय सारे देश की और विशेषतः सेना की मनोवृत्ति उन आलोचनाओं में स्पष्टतः प्रगट हुई जो सैनिक अधिकारियों ने नेफ़ा युद्ध की दुखद घटनाओं के बारे में पत्रकारों से की। यू०पी० आइ० के अमरीकी सम्वाददाता से एक सैनिक अधिकारी ने कटुतापूर्वक यह शिकायत की : "भारतीय सेना पर यह जिम्मेदारी डाली गयी थी कि वह सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण किसी स्थिति की नहीं बल्कि एक राजनैतिक आन की रक्षा करे। जिन सैनिकों का संहार नमका नदी के किनारे हुआ वे एक ऐसी जीर्ण प्रतिरक्षा रेखा में छितरे हुए थे जिसे न तो युद्ध सामग्री पहुँचायी जा सकती थी और न जिसे सुरक्षित रखना सम्भव था।"

२७ अक्तूबर को ऐबी रोजेनथाल ने अमरीका के न्यूयार्क टाइम्स को यह केबल भेजा : "पिछले कुछ दिनों में नयी दिल्ली ने यह कटु सत्य समझा है कि चीनी आक्रमणों के रेलों का सामना करने के लिए जिन भारतीय सैनिकों को भेजा गया था उनके पास इतने भी आधुनिक अस्त्र नहीं थे कि उन्हें शत्रु का सामना करने का जरा भी अवसर मिलता। सेना में तथा आम जनता में सैनिक योजनाएँ बनाने वालों, विशेषतः मेनन के खिलाफ़ क्रोध बढ़ता ही जा रहा है।"

जनमत के द्वारा उन्हें मंत्रिमंडल से बाहर करने की माँग के बढ़ते हुए दबाव के कारण, कृष्णमेनन ने ३० अक्तूबर को त्याग-पत्र दे दिया। उसके बाद एक सप्ताह तक श्री मेनन केवल प्रतिरक्षा उत्पादन के मंत्री रहे। सैनिक

साधनों का उत्पादन करने वाली फैक्ट्रियों का संगठन, शोध तथा विकास ही श्री मेनन की जिम्मेदारियाँ रह गयी थीं। लेकिन तेजपुर में एक आम सभा में बोलते हुए श्री मेनन ने कहा कि उनके सचिवालय में परिवर्तन होने का वास्तव में कोई महत्त्व नहीं था। मेनन के इस कथन से स्वयं कांग्रेस पार्टी और भी क्रुद्ध हो गयी और श्री मेनन को मन्त्रिमण्डल से पूरी तरह बाहर होना पड़ा। श्री रघुरमैया, जो तब तक उत्पादन मन्त्री थे, प्रतिरक्षा उत्पादन के मन्त्री नियुक्त हुए।

३० अक्तूबर को प्रधान सेनापति जनरल थापर ने एक विशेष सैनिक-आदेश में सेना को चेतावनी दी कि 'संघर्ष का अन्त अभी नहीं हुआ है। अभी और भी भीषण तथा घातक आक्रमण होंगे,' लेकिन उन्होंने यह भी विश्वास दिलाया कि, "इस बात के लिए हर सम्भव प्रयत्न किया जायेगा कि आप लोगों को हर ऐसी सुविधा और साधन मिलें जिनसे आप पुनः आक्रमण कर सकने की स्थिति में हों।"

और इस समय जब नेफा पर विस्फोट से पहले का तनाव छाया हुआ था, तब सेला पर सबकी आँखें केन्द्रित हो गयीं—भारतीय जनता की, पत्रकारों की तथा शत्रु की जिसके अगले आक्रमण का अब वह मुख्य निशाना बन गया। उधर शत्रु १३,७५० फिट की ऊँचाई पर स्थित इस मार्के के दर्रे पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था, इधर हमने अपनी दृष्टि में इसे एक अभेद्य दुर्ग बना दिया था।

१५ नवम्बर को लगभग बीस विदेशी और भारतीय सम्वाददाता विमान द्वारा नयी दिल्ली से नेफ़ा ले जाये गये और भारतीय सैनिक अधिकारियों ने बड़े गर्व से उन्हें सेला दुर्ग का मुआइना कराया। सैनिक अधिकारियों ने यह भी कहा कि इस बार भूप्रदेश उनके अनुकूल है और वे शत्रु का मुकाबिला करने के लिए पूरी तरह तैयार हैं।

सेला वास्तव में एक प्राकृतिक दुर्ग था—उस पर कभी सामने से आक्रमण करके कब्जा नहीं किया जा सकता था। यह बात चीनियों ने अच्छी तरह समझ ली थी।

तोवांग और सेला के बीच अत्यन्त दुर्गम भूप्रदेश है—दोनों स्थानों के बीच बस एक टेढ़ी तिरछी, ५० मील लम्बी पतली सी सड़क थी। तोवांग घाटी से भूधरातल एकाएक ८००० फिट उठ जाता है जिसके कारण सेला दर्रा १३,७५० फ़िट की ऊँचाई पर है और इसलिए किसी भी आक्रमणकारी के खिलाफ़ वह सामरिक दृष्टि से पूरी तरह सुरक्षित है।

हमारे सैनिक अधिकारियों ने कहा कि शत्रु ने यदि सेला पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया तो उसका मुँह टूट जायेगा और यदि वह ज्यादा दिन उस इलाके में टिका तो आनेवाली सर्दी में ठिठुर कर रह जायेगा।

त्सेला प्रदेश में हमारा एक डिवीजन स्थित था। दिरांग दजांग में हमारा डिविजनल हेडक्वार्टर तथा ६५ वाँ ब्रिगेड था। अपने सामरिक अनुभव के लिए प्रशंसित ब्रिगेडियर होशियारा सिंह के नेतृत्व में ६२ वाँ ब्रिगेड त्सेला में स्थित था। ४८ वाँ ब्रिगेड ब्रिगेडियर गुरुबख्श सिंह के नेतृत्व में बोमदी ला में स्थित था। त्सेला और बोमदी ला के बीच ७० मील लम्बी एक सड़क थी।

त्सेला में तीन हफ़्तों के लिए पर्याप्त रसद, तोपें, गोला बारूद आदि थे। अत्यन्त गुप्त रूप से हमने चार हल्के टैंक भी त्सेला में पहुँचा दिये थे—बारह वर्ष पहले कश्मीर युद्ध में ज़ोजी ला में भी यह करिश्मा दिखाया गया था। उसके अगले दिन सुबह ही पेकिंग रेडियो ने खबर दी कि भारतीय टैंक त्सेला में पहुँच गये हैं। संयोग की बात यह है कि उस भूप्रदेश और ऊँचाई पर टैंकों से कोई खास काम नहीं लिया जा सकता था और अन्त में वे बड़ी आसानी से दुश्मन के हाथ लग गये थे।

आक्रमण के दूसरे दौर के लिए चीनियों ने तोवांग-बुमला के क्षेत्र में अपने दो डिवीजन केन्द्रित कर दिये थे—वे तोवांग और बुमला के बीच की सड़क का निर्माण कार्य पूरा होने का इन्तज़ार कर रहे थे। तोवांग से आगे वे त्सेला बोमदीला-तेजपुर को मिलाने वाली नयी बनी भारतीय सड़क का प्रयोग कर सकते थे।

इसी कृत्रिम शांतिपूर्ण मध्यांतर में, ८ नवम्बर को राष्ट्रपति राधाकृष्णन स्वयं नेफ़ा के अग्रिम क्षेत्र में गये और जवानों का साहस और उत्साह बढ़ाने के लिए उन्होंने उनसे बातचीत की। सारा राष्ट्र संकटकालीन परिस्थिति का सामना करने के लिए तैयार हो रहा था। भारत प्रतिरक्षा अध्यादेश लागू कर दिया गया। मंत्रिमंडल में एक आपाती उपसमिति बना दी गयी। टी.टी. कृष्णमाचारी, जो उस समय तक संविभागहीन मंत्री थे, अर्थ और प्रतिरक्षा समन्वय के मंत्री बना दिये गये। एक राष्ट्रीय प्रतिरक्षा काउन्सिल की भी स्थापना हुई जिसमें देश के हर पक्ष के नेता शामिल थे।

भारत सरकार ने बड़ी सरगर्मी से अमरीका और इंग्लैंड से शस्त्र सहायता प्राप्त करने के लिए बातचीत शुरू की। २६ अक्तूबर को नयी दिल्ली ने लन्दन तथा वाशिंगटन से तुरन्त यह अपील की कि चीनी संकट का मुकाबिला करने के लिए उन्हें फ़ौरन शस्त्र दिये जायें। वास्तव में अमरीकी शस्त्रों का पहला परेषण ३ नवम्बर को भारत पहुँच गया यद्यपि औपचारिक रूप से शस्त्र सम्बन्धी समझौते पर १४ नवम्बर को हस्ताक्षर हुए थे।

७

दुर्दशा की चरम सीमा

चीनी आक्रमण का दूसरा दौर १४ नवम्बर को शुरू हुआ। नेफा में वालोंग तथा कामेंग सेक्टरों पर चीनियों ने एक साथ हमला बोल दिया। पूरे नेफा मोर्चे पर चीनियों ने अब पूरे तीन डिवीजन लगा दिये।

लद्दाख में चार दिन बाद चीनी आक्रमण शुरू हुए। १८ नवम्बर को चीनियों ने, मध्य सेक्टर में रजांग ला, गुरुंग पर्वत, स्पांगुर गैप और चुशूल हवाई अड्डे के पास के क्षेत्र पर एक साथ गोला-बारूद की बौछार कर दी।

इसी बीच, कृष्ण मेनन मंत्रीमंडल से बाहर हो गये थे। ४थी कोर के स्थानापन्न कमांडर लेफ्टिनेंट जनरल हरबख्शसिंह से कोर का नेतृत्व फिर जनरल कौल ने ले लिया था। मेजर जनरल निरंजनप्रसाद के बजाय मेजर जनरल पठानिया अब कामेंग सेक्टर के डिवीजन कमाण्डर नियुक्त हो गये थे।

अगले ४८ घंटों में चीनियों ने लद्दाख में अपनी दावे की रेखा तक सारे प्रदेश पर कब्जा कर लिया—इस प्रदेश में रजांगला पर्वत, रजांग स्पर, मगर पर्वत, गुरुंग पर्वत तथा बिन्दु १८३०० शामिल थे। यह ध्यान में रखना चाहिए कि इन स्थानों पर बहुत ही छोटी छोटी चौकियाँ थीं जिनमें से हर एक में केवल ३०-६० सैनिक ही थे।

रजांगला में भारतीय दस्ते ने जबरदस्त पराक्रम का परिचय दिया। इसी मुकाबिले में मेजर शैतानसिंह वीर गति को प्राप्त हुए थे। वास्तव में, सन् १९६२ के भारत चीन संघर्ष की लज्जाजनक गाथा में रजांगला का युद्ध पराक्रम का एक ज्वलन्त और गौरवमय अध्याय है।

भारतीय सैनिकों के शौर्य का दूसरा उदाहरण था चुशूल में स्थित भारतीय गैरिसन द्वारा चीनी आक्रमणों की कई बाढ़ों का मुकाबिला करना हालांकि

चुशुल हवाई अड्डे पर चीनी निरन्तर बम वर्षा कर रहे थे। २१ नवम्बर की रात को युद्ध समाप्त होने तक भारतीय गैरिसन सफलतापूर्वक शत्रु का मुक़ाबिला करता रहा।

दो आक्रामक दौरों में चीनियों ने २००० वर्गमील और भारतीय भूमि पर अधिकार प्राप्त कर लिया था और उत्तर में दक्षिण तक, चिपचाप घाटी, गल्वान घाटी, चेंग चेनमो घाटी, पांगांग झील प्रदेश और दमचोंक क्षेत्र में स्थित ४० भारतीय चौकियों को क़ब्ज़े में कर लिया था।

नेफ़ा में चीनियों की आक्रमण नीति थी विशाल त्रिभुजीय सैनिक चाल से त्सेला को दिरांग जांग (डिवीजनल हेडक्वार्टर) तथा बोमदीला से और बोमदीला को फ़ुट हिल से काट देना। यह त्रिभुजीय घेरेदार चाल १५ नवम्बर की रात को शुरू हुई।

इस नीति के अन्तर्गत १७ नवम्बर की सुबह चीनियों ने पहला आक्रमण त्सेला दर्रे के उत्तर में स्थित नीरानाग की अग्रिम स्थिति पर किया। वहाँ के गढ़वाली सैनिकों ने अपने शौर्य से शत्रु के पांच हमलों का मुक़ाबिला किया। उसके बाद चीनियों ने त्सेला के पूर्व में एक दूसरी भारतीय स्थिति पर आक्रमण किया और उसकी रक्षा करने वाले सिक्ख सैनिकों का दमन करके वे आगे बढ़ गये।

इसी बीच तीन चीनी दस्ते अपने-अपने तीन निश्चित गन्तव्यों की ओर बढ़ रहे थे। एक दस्ता, हिमपात की आड़ में, याक मार्ग से पालित पर्वतमाला के पार आगे बढ़ रहा था। त्सेला के गैरिसन पर पीछे से अचानक छापा मारने तथा उन्हें बोमदीला से पृथक् करने के लिए।

दूसरा चीनी दस्ता पूर्व से आकर त्सेला से आगे बढ़ गया और बोमदीला के कुछ मील उत्तर में तथा चौथे पैदली डिवीजन के हेडक्वार्टर दिरांग ज़ांग से आठ मील दक्षिण में उसने भारतीय सड़क पर अधिकार करके अवरोध पैदा कर दिया। इस प्रकार त्सेला की रक्षा के लिए उत्तर में जमे हुए भारतीय सैनिक अलग कट गये और बोमदीला पृथक् हो गया।

तीसरा दस्ता और दक्षिण में चला गया तथा चाकू पहुँचकर बोमदीला और फ़ुटहिल के बीच के मार्ग पर जम गया।

१७ नवम्बर की शाम को जनरल पठानिया बड़ी बेचैनी से टेलीफ़ोन द्वारा कोर हैड क्वार्टर से सम्पर्क स्थापित करने और जनरल से मशवरा करने की कोशिश कर रहे थे लेकिन जनरल कौल उस समय वालोंग में थे। संयोग से उस समय प्रधान सेनापति जनरल थापर और पूर्वी कमाण्ड के सेनापति जनरल सैन कोर हैड क्वार्टर में ही थे।

जनरल पठानिया ने बताया कि त्सेला की स्थिति शोचनीय है और इस बारे में आदेश माँगे कि आगे उन्हें क्या करना चाहिए। उनकी अपनी राय यह

थी कि सेला को छोड़ कर पीछे हट जाया जाये और इसके लिए वे आदेश चाहते थे।

लेकिन थापर और सेन उन्हें इस बारे में किसी प्रकार का आदेश देने को तैयार नहीं थे। उन्होंने जनरल पठानिया से कहा कि जनरल कौल के लौटने पर फिर टेलीफ़ोन करें और कोर कमांडर से ही इस बारे में आदेश लें।

शाम को ७.४५ पर पठानिया ने फिर फोन किया—उस समय तक जनरल कौल लौट चुके थे। पठानिया ने आग्रहपूर्वक इस बात की आज्ञा चाही कि ६२ वें ब्रिगेड को सेला से दिरांगज़ाग हटा दिया जाये क्योंकि उन्हें डर था कि उस रात तक ही सेला का सेंग से सम्पर्क कट जायेगा।

पठानिया के अनुसार कौल ने उन्हें यह सलाह दी कि वे जैसा ठीक समझें करें और कहा कि यदि वह (पठानिया) यह सोचते हैं कि सेला की रक्षा नहीं कर सकते तो वह वहां से हटने के लिए स्वतन्त्र हैं।

लेकिन जनरल कौल के अनुसार उन्होंने बड़ी मुश्किल से और अपनी मर्जी के खिलाफ पठानिया की बात मानी थी। कौल का कथन है कि उन्होंने पठानिया को आग्रहपूर्वक यह समझाया था कि सेला में डटे रहना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और पठानिया का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था कि यदि शत्रु सेला को पीछे से काट देने में सफल हुआ तो भी सेला के गैरिसन के पास कम से कम एक हफ्ते के लिए पर्याप्त हथियार, गोली बारूद और रसद आदि हैं। कौल यह चाहते थे कि सेला में स्थित ६२ वां ब्रिगेड अपने स्थान पर डट कर अन्त तक युद्ध करे।

इस फ़ोन वार्त्ता के बाद, कौल ने उसी दिन रात को पठानिया को यह लिखित आदेश भेजे *

"(१) आप अपनी वर्तमान स्थिति पर डटे रहने की भरसक कोशिश करेंगे,

(२) जब किसी भी स्थिति पर डटे रहना असम्भव और अनुचित हो तो मैं आपको यह अधिकार देता हूं कि ऐसी स्थिति पर हट कर चले जायें जहां आप टिक सकें,

(३) लगभग ४०० शत्रु सैनिकों ने बोमदीला से दिरांगज़ाग की सड़क काट दी है,

(४) मैंने बोमदीला के ४८वें ब्रिगेड के कमान्डर को आदेश दिया है कि आज ही रात को तेज़ी से शत्रु पर आक्रमण कर दें और किसी भी हालत में इस सड़क को साफ रखें,

*लेफ्टिनेंट जनरल बी० एम० कौल "अनकही कहानी"

(५) हो सकता है कि शत्रु आपको सेंग से काट दे ;

(६) १८ तारीख की सुबह दो अतिरिक्त बटालियन बोमदीला पहुँच जायेंगे ;

(७) अपने संचार सूत्रों को अवरोधहीन रखने के लिए टैंकों तथा अन्य सहायक यन्त्रों का प्रयोग कीजिए।"

पठानिया कौल के आभारी थे कि इन आदेशों के द्वारा उन्हें बता दिया गया था कि त्सेला से हटने के बाद उनकी चाल क्या हो, विशेषतः इसलिए कि त्सेला से हटने का निर्णय कौल ने उन पर ही छोड़ दिया था। स्पष्ट था कि पठानिया ने अपना मनचाहा निश्चय ले लिया और ६२वें ब्रिगेड को फ़ौरन त्सेला से हटा लिया।

उस शाम जब ६२वाँ ब्रिगेड त्सेला को छोड़कर दिरांगज़ांग की तरफ़ बढ़ रहा था तो उन्हें राह में सड़क के पार चीनी सैनिक मिले जिन्होंने उन पर मार्टर फेंके और मशीनगन से फ़ायर किये। काफ़ी लोगों की क्षति हुई। शाम के बढ़ते अन्धकार में भारतीय दस्ते में भगदड़ मच गयी और अस्त्रों, गोला-बारूद तथा वायरलेस सेटों को छोड़कर वे जंगलों में छिप कर भाग निकले।

जनरल कौल के अनुसार त्सेला को शत्रु से टक्कर लिये बग़ैर छोड़ दिया गया और इसका सारा क़सूर उन्होंने जनरल पठानिया पर डाला।

त्सेला में भारतीयों का एक पूरा ब्रिगेड स्थित था, उसके पास पर्याप्त रसद तथा हथियार थे और इसके अलावा चार हल्के टैंक भी थे। यदि उनमें लड़ने का ज़रा भी हौंसला या इच्छा होती तो वे दो नहीं तो कम से कम एक दिन डट कर शत्रु से टक्कर ले सकते थे।

मुझ से एक बातचीत में स्वयं पठानिया ने यह बताया कि इस बार शत्रु की सैनिक संख्या हम से अधिक नहीं थी—दोनों बराबर थे क्योंकि दोनों पक्षों के पास एक-एक डिवीज़न था। लेकिन पठानिया ने खेदपूर्वक कहा: "लेकिन किसी रहस्यपूर्ण कारण से जवानों में लड़ने का साहस और उत्साह था ही नहीं।" पठानिया ने यह भी बताया कि उन्होंने दो और ब्रिगेडों की माँग की थी लेकिन सिर्फ़ एक और ब्रिगेड की स्वीकृति मिली और उसके आने से पहले ही चीनियों ने घेरा डालना शुरू कर दिया था। चीनी त्सेला में एक अतिरिक्त ब्रिगेड के साथ पहुँचे थे। हमारा भी एक ब्रिगेड त्सेला में, एक बोमदीला में और एक कमज़ोर ब्रिगेड दिरांगज़ांग के डिवीज़नल हेडक्वार्टर में था।

नौरानाग पर आक्रमण शुरू करते समय चीनी लामाओं के वेष में आये—वे लम्बे लाल चोगे, ऊँचे तिब्बती बूट और फ़र की टोपियाँ पहने थे ताकि वे बौद्ध मोनपा जाति के लोग लगें। गढ़वाल राइफ़िल के सूबेदार प्रतापसिंह ने

बाद में बताया 'वे कटीले नेगामूम मदरसा की तरह, १०० का दल बांध कर मोरानाग की तरफ बढ़ रहे थे।"

'लेकिन जब वे ४०-५० गज के फासले पर रह गये तो उन्होंने अपने चोगा के नीचे से अस्त्र निकाल लिए और फायर करना शुरू कर दिया।

इसके बाद चीनी आक्रमणकारियों की और भी बाढ़ें आयी। जैसे-जैसे वे दल बांधकर आते थे वैसे-वैसे भारतीय सैनिक उन्हें गोलियों से उड़ा देते थे। सूबेदार का दस्ता फैला हुआ था और वे बम-प्रूफ खाइयों में स्थित थे। दोपहर से एक बजे तक चीनियों ने चार बार आक्रमण किये। हर आक्रमण पिछले से ज्यादा बड़ा था। चौथे आक्रमण में ब्रेन-गन लिये हुए एक चीनी सैनिक भारतीय गोली का शिकार हुआ। उस ब्रेन-गन को वापस पाने के लिए चीनी सैनिक टिड्डियों की तरह टूट पड़े। भारतीय सैनिक बराबर फायर करते रहे लेकिन मॉर्टर विस्फोटों के बावजूद चीनियों ने उस ब्रेन-गन को प्राप्त कर लिया। आक्रमण के बाद घाटी में चीनी शवों के ढेर लग गये थे।

अनुमान यह है कि चौथे आक्रमण के बाद चीनी मृतकों की संख्या ३०० थी। इसके बाद कुछ समय शांति रही जिसका उपयोग, सम्भवतः, चीनियों ने अपने पुनर्गठन तथा अतिरिक्त शक्ति इकट्ठी करने के लिए किया।

पांचवें आक्रमण में चीनियों ने भारी गोलवारी की। बम ओलों की तरह गिर रहे थे और जमीन में चार फिट तक गहरे गड्ढे बन गये थे। पांचवें आक्रमण में हल्की मशीन-गन से लैस एक चीनी दस्ता भारतीय सेना के रसोईखाने वाले भाग में घुस गया। भारतीय मॉर्टरों ने रसोई विभाग पर बमों की वर्षा कर दी और एक चीनी सैनिक काम आया। जो दो-तीन चीनी सैनिक बचे थे वे आमने-सामने के युद्ध में मारे गये।

दोपहर में ३.३० को सूबेदार को आदेश मिला कि वह अपने को हटाकर त्सेला की मुख्य प्रतिरक्षा स्थिति को ले जाये—अगले दिन सुबह तक सूबेदार ने आदेश का पालन कर दिया।

सूबेदार प्रतापसिंह ने बताया कि वह चीनी दबाव के कारण नहीं हटे थे बल्कि इसलिए कि उन्हें हटने का आदेश मिला था इस कारण कि वह त्सेला से कट न जायें। सूबेदार प्रतापसिंह का यह पहला सामरिक अनुभव था।"

पी० टी० आई० की उपरोक्त डिसपैच यहाँ पूरी तरह इसलिए दी गयी है कि सन् १९६२ में नेफ़ा युद्ध के बारे में दो तथ्य स्पष्ट हो जायें : पहला यह कि जब भी भारतीय सेना ने डटकर प्रत्याघात किया तो उन्होंने अपने जबरदस्त शौर्य का परिचय दिया और साबित कर दिया कि चीनी अजेय महामानव नहीं हैं ; दूसरे, इस कहानी से यह साबित होता है कि मानव जीवन का चीनियों के लिए कोई मोल नहीं है—साथ ही चीनियों के 'मानवी ज्वार' समर-तन्त्र का भी पूरा ज्ञान प्राप्त होता है।

एक बात और इस डिसपैच से स्पष्ट होती है और वह यह है कि यदि कमान्डर श्रेणी के भारतीय अफ़सरों के हाथ-पांव नहीं फूल जाते तो नीचे की श्रेणी के अफ़सर तथा जवान डट कर चीनियों से लड़ने के लिए तैयार थे। वास्तव में भारतीय सेना के इस अंग ने तनिक भी अवसर मिलने पर अपने साहस और शौर्य का अत्यन्त गौरवमय परिचय दिया और हो सकता था कि यदि चीजें उनके हाथ में होतीं तो वह अपने देश को पराजय और अपमान से बचा लेते।

अपमान इस बात में नहीं था कि भारतीय सेना को पीछे हटना पड़ा—अपयान और अभियान का क्रम तो युद्ध में चलता ही रहता है—अपमानजनक बात यह थी कि भारतीय सेना का अपयान एक अव्यवस्थित भगदड़ बन गया था और हमारे सैनिक बिना लड़े भाग खड़े हुए थे। सारे राष्ट्र का सिर इस पर अपमानवश झुक गया था।

मैं कई ऐसे युवक अफ़सरों से मिला हूँ जो १९६२ के त्सेला-बोमदीला युद्ध में थे और उन सबने आग्रहपूर्वक यही बताया कि उन्हें पीछे हटने के आदेश ठीक उस समय मिले थे जब वे शत्रु के साथ युद्ध करने में गुथे हुए थे, जानें ले रहे थे और दे रहे थे, दुश्मन को पीछे ढकेलने में रत थे और जब पीछे हटने का विचारमात्र भी उनके मन में नहीं था।

इलाहाबाद के 'लीडर' के एक विशेष सम्वाददाता के अनुसार (जो नेफ़ा में भारतीय पतन के ठीक बाद ही वहाँ गये थे) इनमें से कई अफ़सरों का यह कहना था कि आवश्यकता पड़ने से पहले ही उन्हें अपनी-अपनी स्थितियों से हटने के आदेश दिए गए थे। इस बात के कई उदाहरण मिलते हैं कि हटने के आदेश मिलने के बाद भी कम्पनी कमान्डरों ने अपने सैनिकों को इकट्ठा किया तथा शत्रु पर जवाबी हमले किये जिनमें शत्रु के काफी सैनिक काम आये।

इसी सम्वाददाता ने लिखा है कि इसके बावजूद कि चीनी सैनिक बहुत बड़ी संख्या में सारे प्रदेश पर फैले पड़े थे, भारतीय जवान सामरिक रूप से सुरक्षित ट्रेन्चों में स्थित थे और यदि उन्हें लड़ने का मौका दिया जाता तो वे अपनी स्थितियों पर डटे रह सकते थे।

लेकिन हुआ यह कि डिवीजनल कमाण्डर से लेकर ऊपर के सभी अधिकारियों के अचानक हाथ-पाँव फूल गये और उनके मन मे केवल एक ही ख्याल रह गया कि जल्दी से जल्दी युद्ध स्थल से भाग खड़ा हुआ जाये। इस प्रकार की कायरता संक्रामक होती है और इस कारण नीचे की सैनिक श्रेणियाँ इससे प्रभावित होने से नहीं बची। नतीजा यह हुआ कि अधिकारियों ने दुश्मन का सामना करने से इन्कार कर दिया, उनके दस्ते तितर-बितर हो गये और शत्रु के लिए ढेर के ढेर रसद, अस्त्र आदि पीछे छोड़कर, वे जगलों में भाग निकले।

१८ नवम्बर को जब सेला और बोमदीला के बीच की भारतीय सड़क पर चीनी अवरोध को तोड़ने का प्रयत्न किया गया तो दोनों तरफ से छः हल्के टैंक इस काम के लिए लगा दिये गये लेकिन इनकी सहायता के लिए पैदल सेना थी ही नहीं। और यह एक आम सामरिक सिद्धान्त है कि पैदली सहायता के बिना टैंक पूर्णतः निरर्थक होते हैं। अतः वे आसानी से शत्रु के शिकार हो गये।

क्योंकि उस प्रदेश की सारी भारतीय सेना की यह जिम्मेदारी थी कि सेला पर शत्रु के आक्रमण का मुकाबिला करें इसलिए उन्हें चीनियों के बाजू से छापा मारने वाले सैनिक शूलाग्र (स्पियर-हैड) पर आक्रमण करने के लिए फिर से सगठित नहीं किया जा सकता था। इस शूलाग्र ने बोमदीला और सेला के बीच के मार्ग के संचार मार्ग को काट दिया जिसके कारण भारतीय सेना का दम टूट गया और वह सेला तथा दिरागजाग से अत्यन्त अव्यवस्थित रूप से जगली घाटियों मे भाग निकली।

थाकू पर एक चीनी दस्ते ने छिपकर बोमदीला से दक्षिण की तरफ अपयान करते हुए भारतीय सैनिकों पर आक्रमण किया जिसके कारण भारतीय दस्ते में भगदड़ मच गयी। रसद तथा अस्त्रो से लदा हुआ एक बहुत बड़ा सार्थ (कॉनवॉय) सड़क पर ही छोड़कर उसके ड्राइवर जगलों मे भाग निकले।

इस प्रकार १८ नवम्बर को सेला का 'अभेद्य दुर्ग' डाल पर पक कर सड़े हुए फल की तरह दुश्मन के हाथो मे आ गिरा। अगले दिन चीनियो ने बोमदीला पर कब्जा कर लिया।

युद्ध विराम और भारतीय अपयान के बाद जो सामान पीछे छोड़ा गया वह अन्दाज लगाया जाता है, २५,००० चीनी सैनिकों के लिए लगभग दो हफ्ते के लिए काफी था। बुने हुए ऊनी वस्त्रों की गाँठें जो विमानो द्वारा गिराई गई थी तथा जवानो को बाँटी जाने वाली थी, वे भी दुश्मन के हाथ लगी।

नवम्बर, १८ को नेफ़ा मे सैनिक संघर्ष के जिस दौर का अन्त हुआ उसमें भारतीय पक्ष की कमजोरी यह नहीं थी कि उसके पास सैनिको या साधनों का

अभाव था बल्कि यह कि सेना संगठन अव्यवस्थित था और समन्वित रूप से काम नहीं किया गया था।

इसी बीच, लोहित सेक्टर में वालोंग में, भीषण युद्ध चल रहा था। यहाँ पर स्थित ११वाँ ब्रिगेड एक पूरे चीनी डिवीजन की आक्रमणशील बाढ़ को रोकने का प्रयत्न कर रहा था।

२रे पैदली डिवीजन का ५वाँ ब्रिगेड नेफ़ा मोर्चे के मध्य सेक्टर पर सतर्क रूप से निगरानी रख रहा था—उस क्षेत्र में बहुत कम युद्ध हुए थे। २रे पैदली डिवीजन के कमाण्डर एक और पठानिया—मेजर जनरल एम० एस० पठानिया थे।

ब्रिगेडियर 'नवीन' रॉली के नेतृत्व में ११वाँ ब्रिगेड दो दिन तक बिना रुके चल कर वालोंग में अपनी स्थितियों तक पहुँचा था। भारतीय सेना ने यहाँ सबसे अधिक पराक्रम से शत्रु का मुकाबिला किया। उन्होंने एक के बाद एक १५ बार आक्रमणकारियों को पीछे ढकेला जिसके फलस्वरूप ५,००० चीनी मारे गये और दक्षिण की तरफ शत्र की प्रगति को धीमा होना पड़ा।

लेकिन चीनियों की सैनिक संख्या कहीं ज्यादा थी और इसलिए १७ नवम्बर को बहादुर ११वें ब्रिगेड को मजबूरन वालोंग से हटना पड़ा। ब्रिगेडियर रॉली तथा उनके सैनिकों ने जंगल में शरण ली।

हालांकि वालोंग में स्थित भारतीय ब्रिगेड पर यह एक असम्भव और सामरिक दृष्टि से अनुचित जिम्मेदारी डाली गयी थी कि एक कमजोर स्थिति की रक्षा करें फिर भी उसने अपने शौर्य का जोरदार परिचय दिया, जानें दीं और लीं तथा मजबूर होने पर व्यवस्थित रूप से अपयान किया।

नेफ़ा में चीन के तड़ित-गति युद्ध से भारत में जबरदस्त खलबली मच गई। २१ नवम्बर तक चीनी बोमदीला तथा फुटहिलो के बीच अन्तिम भारतीय प्रतिरक्षा रेखा को तोड़ कर आसाम के मैदानों के छोर तक पहुँच गये। वे अब ब्रह्मपुत्र तथा तेजपुर से ४० मील और डिग्बोई के तेल क्षेत्रों से ८५ मील दूर थे।

नयी दिल्ली में यह आतंक फैल गया कि चीनी पूरे आसाम पर कब्जा कर सकते हैं। प्रधान सेनापति जनरल थापर ने त्याग-पत्र दे दिया और उनकी जगह दक्षिणी कमाण्ड के सेनापति जनरल जे० एन० चौधरी ने ली जो कुछ ही समय में अवकाश ग्रहण करने वाले थे। लेफ्टिनेंट जनरल कौल के बजाय लेफ्टिनेंट जनरल मानिकशॉ ४थी कोर के कमाण्डर नियुक्त हुए। ४था पैदली डिवीजन नेफ़ा के जंगलों में तितर-बितर हो गया था; २रा पैदली डिवीजन बुरी तरह आहत हो चुका था।

१९ नवम्बर को भारत सरकार ने त्वरित रूप से अमरीका से लड़ाकू हवाई सहायता की माँग की। इसके पहले कि वाशिंगटन का कोई उत्तर आये,

चीन ने अपनी तरफ से युद्ध-विराम की घोषणा कर दी। एक अंग्रेजी पत्रकार के अनुसार श्री नेहरू ने इंगलैंड और अमरीका से १५ बॉम्बर विमान स्क्वाड्रनों की माँग की थी ताकि नेफ़ा में आगे बढ़ती हुई चीनी सेना को रोका जा सके।

पाँच दिन में चीनी सेना सेला तथा बोमडीला से होती हुई कामेंग डिवीजन में अपनी दावा-रेखा तक पहुँचने के लिए १६० मील आगे बढ़ गई थी और फूटहिलो से केवल ४ मील दूर थी। साथ ही चीनियों ने एक असम्भव काम कर दिखाया था और वह था केवल १८ दिनों में बुमला से लोवांग तक अत्यन्त दुर्गम पहाड़ी प्रदेश में तथा कहीं-कहीं पर १७००० फिट की ऊँचाई छूने वाली एक १५ मील लम्बी सड़क का निर्माण तथा १२० मिलीमीटर के ५ मॉटर और गोला-बारूद उस इलाके में पहुँचाना।

साथ ही लोहित सेक्टर में नेफ़ा के पूर्वी छोर पर अपनी दावा-रेखा तक पहुँचने के लिए व लोहित घाटी में वालाग से ८० मील आगे हायुलियाग तक पहुँच गये थे।

नेफ़ा में चीनी दावा-रेखा भूटान के दक्षिण-पूर्वी छोर से पूर्व की ओर बढ़ती है हिमालय के दक्षिण आँचल से लगी हुई और लोहित नदी के अन्तिम भाग तक, जहाँ भारत, तिब्बत और बर्मा मिलते हैं, पहुँचती है।

पकिंग से भेजी गई पोलिश समाचार-पत्रों की रिपोर्ट के अनुसार इस युद्ध में लगभग १५,००० चीनी सैनिक काम आये। हजारों चीनी सैनिक, पर्याप्त गर्म कपड़ों की कमी के कारण, बर्फ में ठिठुर कर मर गये।

संसद में प्रगट किये गये सरकारी अनुमान के अनुसार २० अक्तूबर के बाद हमारी सैनिक क्षति ६,७६५ थी जिसमें २२४ मृत तथा ४६८ घायल सैनिक शामिल थे। 'गायब हुए' और 'बन्दी बनाये गये' सैनिकों की संख्या इस प्रकार लगभग ६,००० थी। १६ नवम्बर को चीनियों ने दावा किया था कि एक ब्रिगेडियर तथा १६ अन्य अफसरों को मिलाकर उन्होंने ९२७ भारतीय कैद किये थे।

इतने कम समय में भारत की इतनी जबरदस्त क्षति करके तथा अपमानित करके चीनियों ने इस बात के लिए समय नहीं दिया कि भारत अपने को सम्भाल कर प्रत्याघात करे। २०-२१ नवम्बर की रात को चीन ने एक-पक्षी युद्ध-विराम की घोषणा कर दी।

घोषणा में कहा गया कि २१ नवम्बर को ०० ०० घंटे से चीनी 'सीमा-रक्षक' युद्ध रोक देंगे। १ दिसम्बर १९६२ से चीनी 'सीमा-रक्षक' ७ नवम्बर १९५९ की "वास्तविक अधिकार रेखा" के २० किलोमीटर पीछे तक हटना शुरू कर देंगे।

माओ की एक उक्ति है 'यदि विजय निश्चित हो तो आक्रमण करो—उसके बाद सुलह कर लो। शत्रु के आक्रमण को एक बार रोक कर तथा उसके

दूसरे आक्रमण से पहले हमें उचित समय पर रुक जाना चाहिए और उस विशेष युद्ध को वहीं समाप्त कर देना चाहिए। यही है हर संघर्ष का अस्थायी स्वभाव।"

और इसलिए पूर्ण सफलता प्राप्त करने के बाद (और इसके पहले कि इस सफलता के खंडित होने की सम्भावना पैदा हो) चीन ने युद्ध-विराम की घोषणा कर दी।

लन्दन 'टाइम्स' के प्रतिरक्षा सम्वाददाता के अनुसार चीन ने भारत तथा सारे संसार को यह सिद्ध कर दिया कि वे जब और जैसे चाहें सीमा को इच्छा-नुसार परिवर्तित कर सकते हैं और शक्तिपूर्ण स्थिति से समझौते की बात निर्देशित कर सकते है।"

इस संक्षिप्त और तड़ित युद्ध में—जिसमें वास्तविक लड़ाई दस दिन से अधिक नहीं हुई थी—चीनी नेफ़ा में मैक्महॉन रेखा के २०० मील दक्षिण, आसाम के छोर तक पहुँच गये थे जहाँ कामेंग डिवीजन में उनकी दावा-रेखा थी।

नेफ़ा के दूसरे सिरे पर, लोहित डिवीजन में, वे दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम की तरफ़ १०० मील नीचे तक बढ़ कर किबीटू से वालोंग और हायुलियांग तक फैल गये थे। वे एक ऐसे स्थान तक भी पहुँच गये थे जो डिग्बोई तेल क्षेत्र से ८५ मील दूर था।

नेफ़ा के मध्य सेक्टर के सुबनसिरि और सियांग डिवीजनों में चीनी, मैक्महॉन रेखा के कुछ ही स्थानों से केवल ३०-४० मील नीचे तक बढ़ पाये थे। बर्मा की सीमा पर स्थित नेफ़ा का तिराफ़ डिवीजन अछूता था क्योंकि चीन के साथ उसका सीमा सम्पर्क नहीं था।

सबसे गहरा चीनी अतिक्रमण कामेंग सेक्टर में हुआ था—यहाँ वे भूटान सीमा से लेकर बुमला से तोवांग तक के ३० मील लम्बे मोर्चे के किनारे-किनारे आगे बढ़े थे। दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ० बी० एम० गांगुली के अनुसार चीनी डॉ० सन यात सेन द्वारा बनाई गई रेलवे तन्त्र की रूप-रेखा में दिखाये गये मार्ग से आगे बढे थे—इस रूपरेखा में चीनी रेलवे का अन्तिम स्थान तोवांग था।

चीनी तोवांग से, सेला और बोमदीला होते हुए फुटहिल की तरफ बढ़े थे जिसका अर्थ था कि भारतीय भूमि पर कब्जा करने से ज्यादा वे अपनी दावा-रेखा तक पहुँचना चाहते थे।

लद्दाख में चीनियों का उद्देश्य यह मालूम पड़ता था कि वहाँ जिस १४००० वर्ग मील भारतीय भूमि पर वे दावा करते थे उस पर कब्जा करके अपना अधिकार सुदृढ़ कर लें।

८

आखिर यह गडबड क्यों हुई ?

इस युद्ध में परिस्थितियाँ भारतीय पक्ष के विपरीत थीं। हमारी सेना मनोवैज्ञानिक रूप से युद्ध के लिए क़तई तैयार नहीं थी और युद्ध छिड़ने पर ऊँघती हुई पायी गई थी। इसके अलावा, शत्रु के मुक़ाबिले, सैनिकों की संख्या कम थी, हथियार कम थे और जनरलों में युद्ध-कौशल की कमी थी।

विशेषत कामेंग सेक्टर में तो हर चीज़ गडबड थी। वहाँ की शत्रु के साथ विभिन्न मुठभेड़ों में, सुनियोजित सामरिक नीति तथा युद्ध-कौशल का प्रमाण बहुत कम मिलता है। कमाण्डर रह-रह कर बदले गये थे। अग्रिम दस्तों को इस बात की शिकायत थी कि नयी दिल्ली हर बात में टाँग अड़ाता है, यहाँ तक कि इस बात में भी दखल दिया जाता था कि सैनिकों को कहाँ और कैसे स्थित किया जाये। इस बात की भी शिकायत थी कि कोर हेडक्वार्टर से उन्हें उल्टे-सीधे आदेश मिलते थे।

ढोला में चीनियों से युद्ध करने के लिए सेना को आदेश देना भी सरकार की एक बहुत बड़ी ग़लती थी। यह आदेश उन्होंने सैनिक अधिकारियों की राय के खिलाफ़ दिया था।

भारतीय भूमि पर अतिक्रमण करने वाली चीनी सेना का मुक़ाबिला करने के लिए जो समय भारत सरकार ने चुना वह भी ग़लत था। भारत सरकार को यह जानना चाहिए था कि सैनिक दृष्टि से देश उस समय युद्ध के लिए तैयार नहीं है।

२० अक्तूबर को जब चीनियों ने ज़ोरशोर से ढोला पर आक्रमण किया तो उस स्थान के भारतीय रक्षकों के पास रसद की, जूतों की, ऊनी कपड़ों की तथा हथियारों की कमी थी और भारी अस्त्र तो थे ही नहीं।

जनरल कौल के अनुसार नेफ़ा मोर्चे पर भारतीय सैनिकों के पास खुदाई के औजारों की कमी थी और उनके श्स्त्र, गोला-बारूद तथा वायरलेस सेट दोष पूर्ण थे। इस बीहड़, मार्गहीन भूप्रदेश में, जहाँ घायलों तथा मृतकों को केवल हवाई साधनों से ही हटाया जा सकता था, हेलिकॉप्टरों की भी कमी थी।

कौल के ही अनुसार हमारी सेना अस्त्रों, साधनों तथा संभार की दृष्टि से पर्वतीय युद्ध के लिए बिल्कुल योग्य नहीं थी।

सारे थागला-ढोला प्रदेश में हमारा सिर्फ़ एक ब्रिगेड तितर-बितर फैला पड़ा था और उससे यह आशा की जाती थी कि वह गोला-बारूद तथा भारी मॉर्टरों से लेस एक पूरे चीनी डिवीज़न का मुक़ाबिला करे।

और जैसे कोई कमी बची थी, जब चीनियों ने नेफ़ा मोर्चे पर आक्रमण शुरू किया तो भारतीय सेना ने अपने को नेताहीन पाया क्योंकि ठीक उसी समय उनके कोर कमान्डर जनरल कौल दूरस्थ नयी दिल्ली में बीमार पड़े थे।

यही नहीं, ब्रिगेड, डिवीजन तथा कोर कमान्डरों में आपस मे पटती ही नहीं थी। निरंजन प्रसाद के बजाय ए० एस० पठानिया ४थे पैदली डिवीज़न के कमान्डर बन गये थे और जनरल कौल तथा उनकी ४थी कोर ने उमराव सिंह तथा उनकी ३३ वीं कोर का स्थान ले लिया था। नये कोर कमान्डर तथा सैनिक कमान्डर के बीच उतना ही वैमनस्य था जितना भारतीय तथा चीनी सेनाओं के बीच।

मनोवैज्ञानिक तथा सैनिक दृष्टि से युद्ध के लिए हमारी अतत्परता इतनी ज्यादा थी कि सेना के पास उक्त प्रदेश के मानचित्रों की भी कमी थी और इनमें से कुछ तो गलत भी थे। उदाहरणार्थ इन नक़्शों में दिखाया गया था न्यमका नदी उत्तर से दक्षिण की ओर बहती है जबकि वास्तव में वह पश्चिम से पूर्व की ओर बहती है।

मनोवैज्ञानिक अतत्परता का एक उदाहरण यह भी था कि अधिकारी 'मेस' के चाँदी के बर्तन, क़ालीन, कमोड आदि भी लादकर कामेंग सेक्टर के डिवीज़न हेडक्वार्टर तक पहुँचाये गये थे।

एक और उदाहरण है कि जब यह माँग की गयी कि चीनियों का मुक़ाबिला करने में सहायता देने के लिए एक गोरखा बटालियन तुरन्त ढोला भेज दिया जाये तो पूर्वी कमान्ड ने इस माँग को तुरन्त अस्वीकार कर दिया क्योंकि ऐसा करने से उस दिन के दसहरे के उत्सव में बाधा पड़ती।

जबकि नेफ़ा मोर्चे पर चीनियों के चार डिवीज़न थे, शुरू में हमारे एक डिवीज़न से भी कम (२ ब्रिगेड और एक बटालियन) था उनका मुक़ाबिला करने के लिए। इस लड़ित युद्ध के बीच तक हम अपनी शक्ति बड़ी मुश्किल से दो कमज़ोर डिवीज़नों की कर पाये थे। इनमें से भी एक डिवीज़न (दो ब्रिगेड

और एक बटालियन) वालौंग, सियांग और सुवर्णगिरि सेक्टरों के युद्ध में उलझा हुआ था।

२१ नवम्बर को अचानक युद्ध-विराम होने के समय तक हम बहुत मुश्किल से तीसरा और ४थी डिवीज़न मोर्चे तक पहुँचाने में सफल हुए थे।

इन भीषण कठिनाइयों में हवाई ताकत का सामरिक प्रयोग न करना वास्तव में एक अक्षम्य भूल थी। सन् १९६५ के भारत-पाक युद्ध में छंब सेक्टर में कठिनाई में फंसी हुई सेना को सहायता देने के लिए भारतीय वायु सेना का पूरी तरह प्रयोग करने से श्री शास्त्री बिल्कुल नहीं झिझके थे और उनके इस निश्चय के कारण पराजय विजय में बदल गयी थी।

कामेंग सेक्टर में, विशेष रूप से, वायु सेना के सामरिक प्रयोग की स्पष्ट आवश्यकता थी लेकिन अज्ञानवश हम यह समझ बैठे थे कि शत्रु की वायु शक्ति अत्यन्त विशाल है और हम डरते थे कि यदि हमने अपनी सेना को वायु संरक्षण दिया तो शत्रु उसका प्रत्युत्तर बहुत बड़े पैमाने पर देगा। बाद में अपने गुप्त सूचना विभाग तथा अमरीकी रिपोर्टों से पता चला कि उस समय चीनियों की हवाई प्रत्युत्तर देने की शक्ति अत्यन्त न्यून थी।

कमाण्ड शृंखला के भंग हो जाने से अव्यवस्था तथा असन्तोष और भी बढ़ गये थे। अक्सर ऐसा भी हुआ कि कमाण्ड हेडक्वार्टरों की सम्मति लिए बगैर सैनिक हेडक्वार्टर ने स्वयं ब्रिगेडों तथा बटालियनों को संचालित किया।

उदाहरणार्थ, सितम्बर के आरम्भ में सैनिक हेडक्वार्टर ने ढोला के बटालियन कमाण्डर, लेफ्टिनेंट कर्नल मिश्रा को सीधे यह आदेश दिया कि वह १९ सितम्बर तक थागला-यामला-कार्पोना के पूरे प्रदेश पर कब्ज़ा कर लें। डिवीज़नल कमाण्डर मेजर जनरल निरंजन प्रसाद ने इस बात के खिलाफ़ आपत्ति की कि उनसे पूछे बगैर यह आदेश दिया गया था।

इसके अलावा, ३३ वें कोर कमाण्डर लेफ्टिनेंट जनरल उमराव सिंह और पूर्वी कमाण्ड के सेनापति जनरल सेन के बीच सामरिक मामलों पर तीव्र मतभेद पैदा हो गया और उमराव सिंह ने शिकायत की कि जनरल सेन अनुचित रूप से दखलदाजी करते हैं। उमराव सिंह को नेफ़ा मोर्चे से हटा दिया गया।

'चीनियों को बाहर निकालने के लिए जब नयी ४थी कोर की स्थापना हुई तो उसके कमान्डर, जनरल कौल ने प्रादेशिक कमाण्ड की परवाह किये बगैर सीधे नयी दिल्ली से सम्पर्क रखकर अपने चारों तरफ बिफरते हुए असन्तोष को और भी तीव्र कर दिया।

ढोला में जहाँ युद्ध की चिनगारी सबसे पहले फूटी थी, हमारे सैनिकों के पास भारी हथियार थे ही नहीं। यह हथियार ऐन मौके पर पैदल सैनिकों के

द्वारा तोवांग से ढोला की तरफ रवाना किये गये थे लेकिन उन्हें तोवांग वापस पहुँचाना पड़ा क्योंकि इन तोपों के वहाँ पहुँचने से पहले ही ढोला का पतन हो गया था। इसके विपरीत चीनी गोला-बारूद और भारी मॉर्टर खच्चरों पर लाद कर अपने साथ लाये थे।

सड़कों के अभाव के कारण अग्रिम क्षेत्रों में स्थित हमारी सेना को रसद आदि प्राप्त करने के लिए पूर्णतः हवाई अवपातन पर निर्भर रहना पड़ता था। यह तरीका न सिर्फ अत्यधिक कीमती था बल्कि अपर्याप्त और असन्तोष-जनक भी था। अक्सर हवा से गिराया गया सामान या तो ऐसे क्षेत्रों में पहुँच जाता था जहाँ से उसे वापस पाना असम्भव था या शत्रु के इलाक़े में गिर पड़ता था।

इसके विपरीत चीनी सेना पूरी तरह तैयार और सुसज्जित थी—वास्तव में काफ़ी समय से वह इस युद्ध की तैयारी कर रही थी। उसके पीछे उत्तम सड़कों और हवाई अड्डों का जाल बिछा हुआ था। उनके संचार तन्त्र मोर्चे से केवल दो-चार मील ही पीछे थे।

मैकमहॉन रेखा से लगी हुई उनकी मुख्य सड़क पर पाँच-टनी ट्रक चल सकते थे और वह तीन हवाई अड्डों से सम्बन्धित थी। रेखा के उस पार उनका मुख्य प्रतिष्ठान ले मोर्चे से केवल दस मील के फ़ासले पर था। इसके विपरीत हमारा सबसे करीबी रोड-हेड मोर्चे से साठ मील पीछे तोवांग में था।

चीनियों के पास स्वचालित तथा प्रतिक्षेप राइफिल, गोला-बारूद तथा भारी तोपें थीं जबकि, युद्ध के पहले दौर में भारतीय सैनिकों के पास केवल ३०३ राइफ़िल थीं और भारी अस्त्र तो थे ही नहीं।

जो भारतीय सैनिक युद्ध मोर्चे से लौटे उन्होंने बार-बार यह बताया कि सैकड़ों पूरी तरह सशस्त्र चीनी सैनिकों के अचानक आक्रमण करने और तड़ित गति से उन्हें चारों तरफ से घेर लेने से कितनी ज़बरदस्त बौखलाहट पैदा हो जाती थी और आतंक फैल जाता था। पहाड़ों में चीनियों के पास सैकड़ों मॉर्टर थे जिन्हें कौशल से चलाना वे कोरिया के युद्ध में सीख चुके थे। भारतीय अफसरों ने बताया कि यह मॉर्टर चीनियों के सबसे असरदार अस्त्र थे।

हमारे युद्धनीतिक तथा सामरिक उद्देश्य अस्पष्ट और अनिश्चित थे, इसके विपरीत चीनी सेना जानती थी कि वह किस तरफ बढ़ रही है और क्यों बढ़ रही है तथा राजनैतिक दृष्टिकोणों से प्रतिबन्धित हुए बगैर वह अपने निश्चित उद्देश्यों को प्राप्त करने में पूरी शक्ति से लग जाती थी।

'४था पैदली दस्ता', जो अपने युद्ध कौशल के लिए बहुत प्रसिद्ध था, जब नेफ़ा पहुँचाया गया तब तक मात्र उसकी प्रसिद्धि ही बची थी। अब उसमें

केवल नये शामिल किये गये ब्रिगेड थे जिन्हें आपसी समन्वय विकसित करने और एक-दूसरे से तथा अपनी मुख्य कमाण्ड से अच्छी तरह परिचित होने के लिए पर्याप्त समय नहीं मिला था। इसके ऊपर जब चीनी आक्रमण से ठीक पहले उसका कमाण्डर बदला गया तो ऐन मौके पर उसकी नीति भी बदल गयी। वास्तव में चीनियों ने इस डिवीज़न का खूब मज़ाक उड़ाया—पूछा उस प्रसिद्ध लड़ाकू ४थे डिवीज़न को क्या हुआ जिसने जर्मनों को हराया था।

२४ नवम्बर को जनरल निरंजन प्रसाद को हटा कर जनरल ए० एस० पठानिया को (जिन्हें सन ४८ के जोजी ला के युद्ध में महावीर चक्र प्रदान किया गया था) ४थे पैदली डिवीज़न का कमाण्डर बनाया गया। उस समय उस डिवीज़न में केवल दो ब्रिगेड और एक बटालियन थे।

स्वयं युद्ध पर मुझसे बात करते हुए पठानिया ने शिकायत की "आरम्भ से ही एक व्यापक साहसहीनता तथा असन्तोष की भावना थी—शायद इसलिए कि उन्हें पता था कि उन पर एक ऐसी जिम्मेदारी मढ़ दी गयी है जिसे पूरा करना असम्भव है। फिर यह पैबन्ददार डिवीज़न बन गया था जिसमें ऐसे बटालियन शामिल थे जिन्होंने कभी एक दूसरे के साथ मिलकर काम नहीं किया था। इसके अलावा न वे वहाँ की जलवायु के आदी थे और न इन ऊँचाइयों पर लड़ने लिए उनके पास पर्याप्त साधन थे।'

इसके बावजूद पठानिया ने यह स्वीकार किया कि जिस समय चीनियों ने सेला पर आक्रमण किया उस समय उनके पास तीन दिन के लिए पर्याप्त गोला-बारूद और छ दिन का राशन था।

कोर कमाण्डर कौल ने सेला के लज्जाजनक पतन की सारी जिम्मेदारी पठानिया पर डाल दी। कौल के अनुसार पठानिया के हाथ-पाँव फूल गये थे और उन्हें बराबर बस एक ही बात की फिक्र थी कि कैसे होशियारा सिंह के ब्रिगेड को सेला से हटाकर डिवीज़नल हेडक्वार्टर दिरांगज़ोंग पहुँचा दें ताकि यह और भी सुरक्षित हो सकें।

काश पठानिया एक दिन भी सेला में डट जाते तो शायद सेला की कहानी भिन्न होती—चीनी आक्रमणकारी विफल हो जाते और उनके अवरोधों को चीरकर हम बोमडीला को भी बचा लेते।

स्वयं पठानिया ने स्पष्टतापूर्वक स्वीकार किया है कि सेला पर आक्रमण करते समय उनकी संख्या भारतीयों से अधिक नहीं थी। दोनों के पास मुकाबले में एक-एक ब्रिगेड था—इसके ऊपर हमारे ब्रिगेड के पास पर्याप्त राशन, अस्त्र और गोला-बारूद थे।

लेकिन इसके साथ ही पठानिया को अपने ऊपर के अधिकारियों से कई शिकायतें थीं। उन्होंने कहा कि अन्त तक यह उच्चतर अधिकारी इस बारे में

निश्चत नहीं थे कि हमारा मुख्य युद्धनीतिक लक्ष्य क्या है। इसके अलावा यह भी तय नहीं किया जा सका था कि प्रयत्नों को कहाँ केन्द्रित किया जाये : कामेंग में या वालोंग में।

"पहले वे योजना बना लेते थे फिर उस पर सोचना शुरू करते थे," पठानिया ने कहा। "कौल निश्चय ले ही नहीं पाते थे और जब लेते भी थे तो वे निश्चय अस्पष्ट होते थे।" १७ नवम्बर के उस महत्वपूर्ण दिन कोर कमान्डर अपने हेड क्वार्टर में अनुपस्थित थे—वे उस दिन शाम को ही लौटे थे और तभी उनसे आदेश लिए जा सके।

पठानिया ने कौल के उस पर लगाये इस आरोप को गलत बताया कि उस रात उन्होंने (पठानिया ने) होशियारासिंह को सेला से हटने का आदेश दिया था। पठानिया ने कहा कि होशियारासिंह वहाँ से इसलिए हटे थे कि काफ़ी पहले कौल ने उन लोगों से कहा था कि शायद होशियारासिंह को सेला से हटना पड़े और ऐसी परिस्थिति के लिए तैयार रहने को कहा था।

फ़ोन पर पठानिया से होशियारासिंह के अन्तिम शब्द थे : "सेला में कुछ गड़बड़ है—मैं स्वयं वहाँ जा रहा हूँ।" यह वार्त्तालाप १८ नवम्बर की सुबह पाँच बजे हुआ था। इसके बाद पठानिया और होशियारासिंह की मुलाकात फिर कभी नहीं हुई। पठानिया ने इस बात की भी शिकायत की कि स्थानीय कमान्डर अक्सर बिना आदेश के अपयान कर देते थे।

पठानिया ने बताया कि जब २४ अक्तूबर को उन्होने ४थे डिवीजन के नये कमान्डर के रूप में दिरांगजांग में रिपोर्ट किया तो न तो उनके पास सेना प्रमुख के कोई आदेश थे, न पर्याप्त सैनिक और न ऐसे आवश्यक साधन जैसे खुदाई के औज़ार, वायरलेस सेट, गोलाबारूद और राशन। एक सिक्ख लाइट पैदली बटालियन, जो तब तक गोआ के गर्म इलाक़े में था, फ़ौरन हवाई जहाज द्वारा उस ठंडे प्रदेश में पहुँचा दिया गया। और सीधे युद्ध मोर्चे पर तैनात कर दिया गया। पठानिया ने दो और ब्रिगेडों की माँग की थी लेकिन एक ही स्वीकृत किया गया और उसके भी पहुँचने से पहले चीनियों ने घेरा डालना शुरू कर दिया था।

सेला में चीनियों की बाजू से घेरनेवाली सामरिक चाल के बारे में बात करते हुए पठानिया ने बताया कि सेला के बायें पार्श्व पर स्थित दो राजपूत कम्पनियों ने १७ नवम्बर की रात को सामने की पहाड़ी पर मशालबाहकों का एक दस्ता देखा था। वास्तव में यह दस्ता चीनियों का एक बटालियन था जो बीच की खाई का चक्कर काट कर सेला के पीछे पहुँच रहे थे।

इन दोनों कम्पनियों में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई और न उन्होंने डिवीजनल हेडक्वार्टर को इस बात की सूचना दी क्योंकि उनका वायरलेस सेट काम नहीं कर रहा था—इस युद्ध के पूरे दौरान में भारतीय सेना के अधिकतर

वायरलैस सेटों ने काम नहीं किया था इसके अलावा हमेशा बैटरियों का अभाव भी रहता था।

रात ही रात हाथियागानिट ने दूसरे सिक्ख की दो कम्पनियाँ पहाड़ी से हटा ली थी और उनके अपयान में चीनियों ने उनका पीछा किया था। भोर के समय सिक्ख और चीनी सैनिक आमने सामने की मुठभेड़ में गुथे हुए थे।

१८ नवम्बर का महत्त्वपूर्ण सुबह तेजपुर से सचार सम्बन्ध टूट गये जिसके कारण डिविजनल और कोर हेड क्वाटरों के बीच सम्पर्क खत्म हो गया था। १९ नवम्बर का, पठानिया के वहाँ पहुँचने से पहले, बोमदीला पर चीनियों ने कब्जा कर लिया था जिसके फलस्वरूप पठानिया तथा उनके सैनिकों को १२० मील पैदल चलकर फुटहिल पहुँचना पड़ा था।

जिस तेजी और अनौपचारिक ढग से नयी कोर की स्थापना और उसके कमाण्डर की नियुक्ति हुई थी उससे और भी गड़बड़ पैदा हुई। स्वय कौल का कथन है कि उन्हें अपनी नियुक्ति की सूचना ३ अक्तूबर को रात को ६ बजे प्रधान सेनापति से मिली। अगले दिन सुबह वह विमान द्वारा तेजपुर पहुँचे ४०० मील लम्बे मोर्चे का कमाण्ड हाथ म लेने के लिए। उस समय कोर का अस्तित्व तक नहीं था, न कोई स्टाफ था और केवल दो ही ब्रिगेड थे जबकि साधारणत एक कोर में छ से नौ ब्रिगेड तक होते हैं। कौल के पास न तो कोई सचार तन्त्र था और न तोपखाने इन्जीनियरिंग, यातायात तथा सप्लाई के यूनिट जो कोर हेडक्वाटर के आवश्यक अग होते हैं।

कौल को भारत सरकार का सबसे पहला आदेश था कि ढोला—थागला क्षेत्र से चीनियों को निकाल फेंके। लेकिन स्वय ढोला क्षेत्र का मुआइना करने के बाद कौल ने दिल्ली लौटकर सरकार तथा सैनिक हेडक्वार्टर को बताया कि जो जिम्मेदारी उनको सौंपी गयी थी वह पूरी नहीं की जा सकती।

कोर कमाण्डर की हैसियत से कौल पर यह आरोप लगाया जाता है कि मशविरों और आदेशों के लिए वह कोर हेडक्वार्टर में बहुत कम मिलते थे—उनका अधिकतर समय अग्रिम क्षेत्रों मे ही गुजरता था।

अपने बचाव के लिए कौल ने द्वितीय महायुद्ध के अमरीकी जनरल पैटन का उदाहरण दिया है। यही बात जर्मनी के फील्ड मार्शल रमल के बारे में सही थी जो अपना अधिकाश समय अग्रिम क्षेत्रों मे स्थित सेना के साथ बिताते थे। लेकिन रमल जब भी अग्रिम प्रदेशों में होते थे तो उनकी वायरलेस गाड़ी बराबर उनके साथ रहती थी और सारे मोर्चे पर होनेवाली गतिविधियों का उन्हें घड़ी-घड़ी का ज्ञान प्राप्त होता रहता था। इसके अलावा जब भी रमल किसी अग्रिम क्षेत्र मे होते थे तो अधिकतर वहाँ का कमाण्ड वह स्वय अपने हाथों में ले लेते थे और युद्ध का निर्देशन खुद ही करते थे।

कहा जाता है कि अधिकतर समय कौल अग्रिम क्षेत्रों में रोब जमाते घूमते थे जिससे व्यस्त अग्रिम कमाण्डर के काम में खलल पड़ता था । तनाव की चरम सीमा पर कौल के इस आदेश से कि कोर हेडक्वार्टर तेजपुर से गौहाटी हटा दिया जाये (जिसे बाद में फिर तेजपुर लाना पड़ा था) सेना में भय और साहसहीनता तथा जनता में आतंक फैल गया था जिसके कारण लोगों ने बड़ी संख्या में तेजपुर छोड़कर भागना शुरू कर दिया था

× × ×

संक्षिप्त रूप में संसद के सामने रक्षा मंत्री श्री चव्हाण द्वारा प्रस्तुत की गयी हेन्डरसन ब्रूक्स रिपोर्ट ने यह स्वीकार किया है कि हमारे सैनिकों का प्रशिक्षण नेफ़ा के दुर्गम प्रदेश तथा वहाँ के लिए आवश्यक युद्ध तत्परता को ध्यान में रखकर नहीं किया गया था । न इन सैनिकों का प्रशिक्षण इस दृष्टि से किया गया था कि उन्हें कभी चीन से युद्ध करना पड़ेगा । अत : "हमारे सैनिकों को चीनी सामरिक नीति और युद्ध के तरीकों का, उनके अस्त्रों का, साधनों का और सैनिक कौशल का बिल्कुल ज्ञान नहीं था ।" सत्य यह था कि हमारी सेना पूरी तरह से सिर्फ़ पाकिस्तान से युद्ध करने के लिए प्रशिक्षित थी । भारतीय सेना द्वारा इस्तेमाल किये गये दक़ियानूसी सामरिक तरीक़े चीनियों के असाधारण सामरिक तरीकों के सामने बिल्कुल निरर्थक थे । न पर्याप्त मात्रा में कंटीले तार तथा 'माइन्स' थी जिनसे चीनी आक्रमणकारियों के 'मानवी ज्वार' रोके जाते ।

ब्रूक्स रिपोर्ट ने इस बात पर भी जोर दिया था कि समय की सबसे बड़ी आवश्यकता थी अधिकारियों को नेतृत्व का पूरा प्रशिक्षण देना । जाँच से यह बात सिद्ध हुई थी कि प्रशिक्षण तथा वास्तविक युद्ध, दोनों, के लिए साधनों की सर्वांग कमी थी ।

संभार समस्या युँ भी बहुत खराब थी, उसके ऊपर वाहनों की विशेष कमी थी और जो वाहन थे भी "उनमें से भी अधिकतर पुराने थे और पर्वतीय प्रदेश तथा ऊँचाइयों पर भार वहन करने के अयोग्य थे ।"

कमान्ड व्यवस्था की आलोचना करते हुए ब्रूक्स रिपोर्ट ने दिखाया कि "कठिनाइयाँ तब पैदा हुईं जब पूर्व निर्धारित कमान्ड शृंखला से हट कर निश्चय लिये गये," लेकिन रिपोर्ट ने इस ओर भी ध्यान दिलाया कि "ऐसा सिर्फ़ इस लिए हुआ कि पहले से पर्याप्त रूप से विचार नहीं किया गया था और सुगठित योजनाएँ नहीं बनायी गयी थीं ।"

रिपोर्ट ने इस बात की भी मद्धिम-सी आलोचना की कि उच्च सैनिक अधिकारी (जो मोर्चे से दूर पर स्थित थे) सामरिक मामलों में इस हद तक हस्तक्षेप करते थे कि अपनी कुर्सियों पर बैठे हुए दूर से युद्ध स्थल पर स्थित

सैनिकों के काम भी निर्धारित कर देने थे। 'युद्ध क्षेत्र के कमाण्डरों का यह काम है कि आवश्यकता पड़ने पर, अपने आप ही निश्चय लें और युद्ध की स्थानीय समस्याओं को हल करना उन्हीं पर छोड़ देना चाहिए था।"

सैनिकों की शारीरिक स्वस्थता के बारे में रिपोर्ट ने यह स्वीकार किया था "अधेड़ अवस्था के अफसरों की शारीरिक स्वस्थता में कमी आ गयी थी" साथ ही रिपोर्ट में कहा गया था कि अवर अधिकारियों की शारीरिक स्वस्थता का स्तर अच्छा था।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि कमाण्डरों के युद्ध कौशल के बारे में रिपोर्ट का यह मत था कि 'सेना के प्रवर अधिकारियों में असमताएं ज्यादा सीमा तक दृष्टिगोचर हुई थीं।" यह भी स्पष्ट किया गया कि अक्सर प्रवर कमाण्डर अवर कमाण्डरों की निश्चय लेने की शक्ति तथा पहल क्षमता पर भरोसा नहीं करते थे यद्यपि वास्तव में उनको (अवर कमाण्डरों को) ही भूप्रदेश का तथा अपने नीचे के सैनिकों की स्थानीय स्थिति का आवश्यक ज्ञान था।

स्टाफ़ काम तथा क्रियातन्त्र के बारे में रिपोर्ट की राय थी कि "एक बड़ा सबक यह मिला है कि जनरल स्टाफ की कार्यविधि की उत्तमता और उचित समय पर पूर्व योजना बना लेने की क्षमता तथा औचित्य का हमारी भावी युद्ध तत्परता पर विशेष तथा महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा।"

स्टाफ़ की कार्यविधि की सामान्य बात करते हुए, अव्यवस्था का यह उदाहरण ध्यान देने योग्य है। सन् १९६२ के युद्ध के बीच में एक बार इसकी आवश्यकता महसूस हुई कि सामरिक प्रशासकीय केन्द्र को एक स्थान से हटा कर दूसरे स्थान पर पहुँचा दिया जाय। सैनिक नियमों के अनुसार ऐसे यूनिट में यह क्षमता होनी चाहिए कि एक घंटे के अन्दर स्थान परिवर्तन के लिए तैयार हो जायें। एक दिन सुबह जब इस केन्द्र को हटाने की कार्रवाई शुरू हुई तो पता यह चला कि वाहनों का काफ़िला संगठित ही नहीं किया जा सकता। उस दिन शाम तक भी आवश्यक संख्या में वाहन इकट्ठे नहीं किये जा सके।

स्थान परिवर्तन का काम अगले दिन सुबह तक शुरू किया जा सका। स्टाफ़ केन्द्र से लदा हुआ क़ाफ़िला काफ़ी दूर चलने के बाद घंटों एक नदी के किनारे अटका खड़ा रहा क्योंकि उसे नदी के पार ले जाने के लिए नाव के बेड़े का प्रबन्ध नहीं हो पा रहा था। अन्त में केन्द्र किसी तरह नये स्थान पर पहुँच गया लेकिन चौबीस घंटे के भीतर ही उसे यह आदेश दिया गया कि फिर पुराने स्थान पर वापस पहुँच जावे और वहाँ से किसी हालत में न हटे।

सम्बन्धी गाड़ियों का छूट जाना, एक स्थान से दूसरे स्थान जाते समय दस्तों का अस्त व्यस्त हो जाना और सैनिकों का अपने साधनों से पृथक् हो जाना

बुरी और दुस्संगठित स्टाफ़ कार्यविधि के प्रमाण थे हालांकि देश में यह समझा जाता था कि जनरल स्टाफ़ इन बातों में अत्यन्त कुशल है।

भारतीय सेना की गतिशीलता किसी सीमा तक इस बात से भी प्रभावित होती थी कि भारतीय सैनिकों के पास मूलतः काफ़ी भारी व्यक्तिगत सामान होता था। यह आम बात थी कि अपने रेजिमेंटल केन्द्र से नेफ़ा मोर्चे पर जाते समय जवान के साथ ७० पाउंड के भार का व्यक्तिगत सामान तथा युद्ध सामग्री होते थे। अधिकारी वर्ग अपने साथ ट्रंक, सूटकेस, भारी बिस्तर, कैम्प किट, यहां तक अटैची केस आदि लेकर चलते थे।

यह ध्यान में रखने योग्य बात है हेन्डरसन ब्रुक्स रिपोर्ट, रक्षा मंत्रालय द्वारा संक्षिप्त करके, जिस रूप में, प्रस्तुत की गयी थी वह व्यास-शैली तथा बातों को घटाकर कहने का एक सर्वोत्तम नमूना है। संग्राम निर्देशन पर टिप्पणी करते हुए रिपोर्ट में कहा गया : "सेना शासन का यन्त्र होती है इसलिए विशालतम और पूर्णरूप से सुसज्जित सेनाओं के लिए भी यह आवश्यक होता है कि सरकार द्वारा उसे उचित नीति निर्देश तथा महत्त्वपूर्ण आदेश मिलें। यह निर्देश और आदेश इस बात को ध्यान में रखकर देने चाहिएँ कि समय-समय पर सेना का आकार क्या है और उसके सैनिक साधनों की स्थिति कैसी है।"

दूसरे शब्दों मे रिपोर्ट ने इस घातक तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया कि सरकार की नीतियों और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक सैनिक क्षमता मे काफ़ी अन्तर था।

अन्त में रिपोर्ट ने बताया कि १९६२ के भारत-चीन युद्ध में केवल २४,००० भारतीय सैनिक ही वास्तव में इस्तेमाल हुए थे। इनमें से जो सैनिक लद्दाख में स्थित थे उन्होंने शत्रु के अधिक संख्या में होने तथा उससे घिर जाने के बावजूद, अपने शौर्य का ज़बरदस्त प्रमाण दिया था। पूर्वी मोर्चे पर हालांकि शत्रु के ज़बरदस्त संख्या में होने के कारण भारतीय सेना को मजबूरन पीछे हटना पड़ा था, हमारे सैनिकों ने वालोंग से अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से अपयान किया तथा शत्रु के कई सैनिक आहत किये लेकिन कामेंग सेक्टर में उनकी बुरी गति हुई।

कामेंग मे भारतीय सेना की यह दुर्गति क्यों हुई इसके बारे में हेन्डरसन ब्रुक्स रिपोर्ट का रक्षा मंत्रालय का संक्षिप्त संस्करण खामोश है। स्पष्ट है कि मूल रिपोर्ट में इस बारे में बहुत कुछ कहा गया होगा क्योंकि कामेंग सेक्टर की लज्जाजनक घटनाओं के कारण ही यह जांच की गयी थी। लेकिन दुर्भाग्यवश रिपोर्ट के इसी अंग को जनता से पूरी तरह छिपा कर रखा गया—सरकार का ऐसा करना राजमर्मज्ञता और लोकतंत्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

मेजर पद तक के अवर अधिकारी अत्यन्त कटु मनोस्थिति के साथ मोर्चे से वापस लौटे—उनके मन मे यह भावना थी कि सरकार ने उन्हें एक

असम्भव स्थिति में फंसा कर छोड़ दिया था। प्रवर अधिकारियों के बुरे नेतृत्व तथा उनकी गलतियों के कारण उन्हें जो बर्बादी आ पड़नेवाली नागरिक यातनाएँ सहनी पड़ी थीं उनके कारण यह भावना और भी दृढ़ हो गयी थी। इसके अलावा इन अवर अधिकारियों का प्रवर अधिकारियों के नेतृत्व में कतई विश्वास नहीं था। इसका उदाहरण यह कहानी है जो मेजर जनरल ए० एस० पठानिया ने मुझे बतायी थी और जिसका अनुमोदन औरों ने भी किया है।

पठानिया ने मुझे बताया कि २६ अक्तूबर की शाम रेडियो के पास बैठे हुए अफ़सरों ने जब यह सुना कि जनरल कौल ठीक हो गये हैं और उन्होंने फिर से चौथी कोर का कमाण्ड ग्रहण कर लिया है तो वे एक स्वर से बोले, "वह लौट आये हैं? तो अब भगवान ही हमारी रक्षा करे।" सेना प्रमुख के बारे में भी अवर अधिकारियों की और जवानों की राय अच्छी नहीं थी। और उनके स्थानीय डिवीज़नल कमाण्डर तो युद्धक्षेत्र में और भी अयोग्य नेता साबित हुए थे।

सेला में स्थित सैनिकों में आतंक और साहसहीनता का एक और कारण था मोर्चे से लौटते हुए सैनिकों की बदहवास भय फैलानेवाली बातें। रूपा से हो कर जब वे तेज़पुर में पहुँचते थे तो मोर्चे पर जाने वाले नये सैनिकों से घुलते मिलते थे और उन्हें चीनियों के बारे में आतंकित करनेवाली कहानियाँ सुनाते थे। चीनियों की निर्मम सामरिक नीति तथा युद्ध करने के भीषण तरीकों को बढ़ा चढ़ा कर बताने से यह लौटते हुए सैनिक सिद्ध करना चाहते थे कि उनका पराजित होना और अपमान सहना अस्वाभाविक नहीं था। बात की बात में नये सैनिकों में भी लौटते हुए सैनिकों की साहसहीनता भर जाती थी।

यह वालोंग में नहीं हुआ क्योंकि वह तेज़पुर से बहुत दूर था और इसलिए यह आतंक कथाएँ मोर्चे पर लड़नेवाले सैनिकों तक कभी नहीं पहुँच सकी थीं।

ढोला और तोवांग में पराजित होने के अलावा सेला और बोमडीला में सेना में साहसहीनता का भाव कम होने के दो अन्य कारण उन लोगों ने बताये हैं जो उस समय उसी क्षेत्र में थे। वे ये हैं

(१) यह व्यापक भावना कि नयी दिल्ली में स्थित प्रवर अधिकारियों ने उन्हें इस असम्भव स्थिति में फंसा दिया है। यह भावना इस बात से जन्मी थी कि सैनिकों के पास राशन का, कपड़ों का, अस्त्रों तथा गोला बारूद का ज़बरदस्त अभाव था और उन पर निर्ममतापूर्वक ऐसी ज़िम्मेदारी थोप दी गयी थी जिसे पूरा करना असम्भव था। इसके अलावा उन्हें यह भी मालूम था कि सुरक्षाहीन स्थितियों में उन्हें संख्या में कहीं अधिक तथा सैनिक साधनों से पूरी तरह सुसज्ज शत्रु से युद्ध करना है।

(२) सैनिक हेडक्वार्टर से लेकर कोर, डीवीजन तथा ब्रिगेड के स्तर तक सैनिक नेतृत्व में पूर्ण अविश्वास ।

यह भी एक नग्न सत्य था जो ब्रुक्स रिपोर्ट मे स्वीकार किया गया है कि कश्मीर युद्ध के बाद के तेरह वर्षों में सेना को घुन लग गया था । इस युद्धहीन अवधि में राजनीतिज्ञों की सरकार ने सेना की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था और इतना पर्याप्त धन अधिकृत नहीं किया था कि वह आवश्यक तथा आधुनिक सैन्य-साधन प्राप्त कर सके । और इन कारणों से सेना के अधिकारियों के मन में यह भावना पैदा हो गयी थी कि उनके साथ सौतेली माँ का सा व्यवहार किया जा रहा है । इस भावना के कारण वह उत्साह तथा युद्ध प्रवृतता पैदा होना मुश्किल था जो सफल सैनिक नेताओं मे होना आवश्यक है ।

शायद इस सम्बन्ध में फ़ील्ड मार्शल रमल का यह कथन उद्धरित करना युक्तिसंगत होगा :

> "सैनिक का युद्ध के प्रति क्या रुख होता है यह अच्छी तरह से समझ लेना बहुत महत्वपूर्ण है । जो आदमी अपने घर और परिवार को छोड़ कर मोर्चे की अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में लड़ने-मरने के लिए आता है वह वास्तव में उच्चतम आदर्शों से प्रेरित होकर ऐसा करता है और यह एक ऐसी बात है जिसके बारे में कमान्डरों को कोई भ्रम नहीं होना चाहिए । इसलिए अफ़सरों का सबसे पहला कर्त्तव्य है कि सैनिकों के दिलों में किसी भी तरह आदर्श का यह दीप प्रज्वलित रखें । सैनिकों को अपने आदर्शों में विश्वास क़ायम रखने के लिए बराबर कारण मिलते रहने चाहिए वर्ना यह विश्वास शीघ्र ही खत्म हो जाता है ।"

हेन्डरसन ब्रुक्स रिपोर्ट के संक्षिप्त संस्करण को पेश करते हुए रक्षा मंत्री चव्हाण ने अपने वक्तव्य के अन्त में संसद को बताया कि त्रुटियों को ठीक करने का काम उक्त रिपोर्ट के प्राप्त होने तक के समय के लिए नहीं रखा गया था । इस दिशा में सुधार का काम जाँच शुरू होने के साथ ही आरम्भ कर दिया गया था ।

रिपोर्ट प्राप्त होने के बाद सेना को पुनर्संगठित, पुनर्विन्यासित तथा परिवर्धित करने का त्रिमुखी काम और भी तेजी से किया जाने लगा । भविष्य में नेफा मोर्चे पर किसी भी सम्भावित चीनी आक्रमण का सामना करने की हमारी वर्त्तमान युद्ध तत्परता के बारे में मुझे कई उत्साहजनक प्रमाण मिले है । पूर्वी कमान्ड के वर्त्तमान सेनापति लेफ्टिनेंट जनरल मानिकशॉ अत्यन्त कुशल सैनिक हैं जो अपने काम में पूर्णतः कुशल है । उनसे बातें करना एक जीवनदायक अनुभव है ।

असम्भव स्थिति में फंसा कर छोड़ दिया था। प्रवर अधिकारियों के बुरे नेतृत्व तथा उनकी गलतियों के कारण उन्हें जो बर्बादी और गलतबानी शारीरिक यातनाएँ सहनी पड़ी थीं उनके कारण यह भावना और भी दृढ़ हो गयी थी। इसके अलावा इन अवर अधिकारियों को प्रवर अधिकारियों के नेतृत्व में कोई विश्वास नहीं था। इसका उदाहरण यह कहानी है जो मेजर जनरल ए० एस० पठानिया ने मुझे बतायी थी और जिसका अनुमोदन औरों ने भी किया है।

पठानिया ने मुझे बताया कि २६ अक्तूबर की शाम रेडियो के पास बैठे हुए अफसरों ने जब यह सुना कि जनरल कौल ठीक हो गये हैं और उन्होंने फिर से अपनी कार का कमान्ड ग्रहण कर लिया है तो व एक स्वर में बोले," वह लौट आये हैं ? तो अब भगवान ही हमारी रक्षा करे।" सेना प्रमुख के बारे में भी अवर अधिकारियों की और जवानों की राय अच्छी नहीं थी। और उनके स्थानीय डिवीजनल कमाण्डर भी युद्ध क्षेत्र में और भी अयोग्य नेता साबित हुए थे।

सेना में स्थित सैनिकों में आतंक और साहसहीनता का एक और कारण था मोर्चे से लौटते हुए सैनिकों की दयनीय भय फैलाने वाली बातें। सेले से हो कर जब व तेजपुर में पहुँचते थे तो मोर्चे पर जाने वाले नये सैनिकों से मिलते जुलते थे और उन्हें चीनियों के बारे में आतंकित करनेवाली कहानियाँ सुनाते थे। चीनियों की निमम सम्भरिक नीति तथा युद्ध करने के भीषण तरीकों को बढ़ा चढ़ा कर बताने में यह लौटते हुए सैनिक सिद्ध करना चाहते थे कि उनका पराजित होना और पलायन करना अस्वाभाविक नहीं था। बाद की बात में नये सैनिकों में भी लौटते हुए सैनिकों की साहसहीनता भर जाती थी।

यह वालोंग में नहीं हुआ क्योंकि यह तेजपुर से बहुत दूर था और इसलिए यह घातक कथाएँ मोर्चे पर लड़नेवाले सैनिकों तक कभी नहीं पहुँच सकी थीं।

ढोला और तोवांग में पराजित होने के अलावा सेला और बोमडीला में सेना में साहसहीनता का भाव कम होने के दो अन्य कारण उन लोगों ने बताये हैं जो उस समय उसी क्षेत्र में थे। व ये हैं.

(१) यह व्यापक भावना कि नयी दिल्ली में स्थित प्रवर अधिकारियों ने उन्हें इस असम्भव स्थिति में फंसा दिया है। यह भावना इस बात से जन्मी थी कि सैनिकों के पास राशन का, कपड़ों का, अस्त्रों तथा गोला बारूद का जबरदस्त अभाव था और उन पर निर्ममतापूर्वक ऐसी जिम्मेदारी थोप दी गयी थी जिसे पूरा करना असम्भव था। इसके अलावा उन्हें यह भी मालूम था कि सुरक्षाहीन स्थितियों में उन्हें संख्या में कहीं अधिक तथा सैनिक साधनों से पूरी तरह सुसज्ज शत्रु से युद्ध करना है।

(२) सैनिक हेडक्वार्टर से लेकर कोर, डीवीजन तथा ब्रिगेड के स्तर तक सैनिक नेतृत्व में पूर्ण अविश्वास।

यह भी एक नग्न सत्य था जो ब्रुक्स रिपोर्ट में स्वीकार किया गया है कि कश्मीर युद्ध के बाद के तेरह वर्षों में सेना को घुन लग गया था। इस युद्धहीन अवधि में राजनीतिज्ञों की सरकार ने सेना की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था और इतना पर्याप्त धन अधिकृत नहीं किया था कि वह आवश्यक तथा आधुनिक सैन्य-साधन प्राप्त कर सके। और इन कारणों से सेना के अधिकारियों के मन में यह भावना पैदा हो गयी थी कि उनके साथ सौतेली माँ का सा व्यवहार किया जा रहा है। इस भावना के कारण वह उत्साह तथा युद्ध प्रवृत्तता पैदा होना मुश्किल था जो सफल सैनिक नेताओं मे होना आवश्यक है।

शायद इस सम्बन्ध मे फ़ील्ड मार्शल-रमल का यह कथन उद्धरित करना युक्तिसंगत होगा :

> "सैनिक का युद्ध के प्रति क्या रुख होता है यह अच्छी तरह से समझ लेना बहुत महत्वपूर्ण है। जो आदमी अपने घर और परिवार को छोड़कर मोर्चे की अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में लड़ने-मरने के लिए आता है वह वास्तव में उच्चतम आदर्शो से प्रेरित होकर ऐसा करता है और यह एक ऐसी बात है जिसके बारे में कमान्डरों को कोई भ्रम नहीं होना चाहिए। इसलिए अफ़सरों का सबसे पहला कर्त्तव्य है कि सैनिकों के दिलों में किसी भी तरह आदर्श का यह दीप प्रज्वलित रखें। सैनिकों को अपने आदर्शों में विश्वास क़ायम रखने के लिए बराबर कारण मिलते रहने चाहिए वर्ना यह विश्वास शीघ्र ही खत्म हो जाता है।"

हेन्डरसन ब्रुक्स रिपोर्ट के संक्षिप्त संस्करण को पेश करते हुए रक्षा मंत्री चव्हाण ने अपने वक्तव्य के अन्त में संसद को बताया कि त्रुटियों को ठीक करने का काम उक्त रिपोर्ट के प्राप्त होने तक के समय के लिए नहीं रखा गया था। इस दिशा में सुधार का काम जाँच शुरू होने के साथ ही आरम्भ कर दिया गया था।

रिपोर्ट प्राप्त होने के बाद सेना को पुनर्संगठित, पुनर्विन्यासित तथा परिवर्धित करने का त्रिमुखी काम और भी तेजी से किया जाने लगा। भविष्य में नेफ़ा मोर्चे पर किसी भी सम्भावित चीनी आक्रमण का सामना करने की हमारी वर्त्तमान युद्ध तत्परता के बारे में मुझे कई उत्साहजनक प्रमाण मिले हैं। पूर्वी कमान्ड के वर्त्तमान सेनापति लेफ्टिनेंट जनरल मानिकशॉ अत्यन्त कुशल सैनिक हैं जो अपने काम में पूर्णतः कुशल है। उनसे बातें करना एक जीवनदायक अनुभव है।

जानकार विदेशी सैनिक पर्यवेक्षकों ने इस बात का समर्थन किया है कि सन् १६६२ में चीन द्वारा कड़ी चोट खाने के बाद से भारतीय सेना ने आश्चर्यजनक प्रगति कर ली है। भारत तथा चीन के आस-पास के अन्य देशों का दौरा करने के बाद हैरिसन सैलिसबरी ने न्यूयॉर्क टाइम्स के लिए लिखी गयी एक लेखमाला में कहा है

> "विदेशी पर्यवेक्षकों को विश्वास है कि हिमालय के मोर्चे पर भारत चीन की किसी भी विशाल शक्ति का मुकाबिला कर सकता है। एक अत्यन्त जानकार भारतीय सैनिक का मत है कि भारत अब किसी भी चीनी आक्रमणशील प्रयत्न का सामना कर सकता है।"

बाद में लिखी गयी अपनी पुस्तक 'ऑर्बिट ऑफ चाइना' में सैलिसबरी ने एक अमरीकी विशेषज्ञ का यह मत प्रस्तुत किया है कि सारे संसार में भारतीय सैनिक सबसे अच्छे, कठिनाइयाँ सहने की सबसे ज्यादा क्षमता रखने वाले, सबसे उत्तम ढंग से साधनपूर्ण पहाड़ी सैनिक हैं। वे किसी भी चीनी आक्रमण का सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकते हैं।

अपनी १६६८ की वार्षिक समीक्षा में अमरीकी प्रतिरक्षा सचिव रॉबर्ट मैक्नमारा ने कहा है कि साम्यवादी क्षेत्र के बाहर सैनिक शक्ति के दृष्टिकोण से एशिया में भारत की सर्वोच्च स्थिति है। उन्होंने कहा है कि चीन के पास २३ लाख सैनिक हैं। जिनमें इस बात की सीमित क्षमता है कि अपनी सीमाओं के बाहर आक्रमण कर सकें। इसके मुकाबले भारत के पास अब ११ लाख सैनिक हैं जो चीनियों से अपने देश की रक्षा करने के पूर्णत योग्य हैं।" मैक्नमारा ने यह भी कहा है कि भारतीय सेना के हर सदस्य की व्यक्तिगत फायर शक्ति चीनियों की तुलना में ज्यादा है, और "संचार तथा यातायात की व्यवस्था सुधारने के कारण अब वे सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में आसानी और तेजी से अतिरिक्त सैनिक सहायता पहुँचा सकते हैं।"

वास्तव में पर्वतीय सीमा पर ५००० मील लम्बी मिलानेवाली सड़कों का जाल बिछ जाने के कारण अब भारतीय सेना इस इलाके में आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचायी जा सकती है। चीन अपनी तरकीब अब दोहरा नहीं सकता क्योंकि अब सन् १६६२ की तरह वे हमें अपनी तेजी से चकित नहीं कर सकते। हमारी सेनाएँ वहाँ डटी हुई हैं और कभी भी किसी चीनी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए पूरी तरह तैयार हैं। वे अब स्थानीय जलवायु की आदी हैं। उनके पास पर्याप्त वस्त्र और अस्त्र हैं और उनकी संभार समस्याएँ काफी सीमा तक हल हो चुकी हैं। इसके अलावा उनमें असीम साहस और उत्साह है।

९

दुबु द्धि के पीछे सुबुद्धि

चीनी अपनी विजय-यात्रा के बीच में ही क्यों रुक गये ?

इसके कई कारण हैं। यूँ अपनी तरफ से चीनी इस बात का दावा करते है कि वे केवल आत्म-रक्षा के लिए ही युद्ध करने पर मजबूर हुए थे और अतिक्रमण एक बार खत्म हो जाने पर युद्ध जारी रखने का कोई अर्थ नहीं था।

लेकिन चीन द्वारा युद्ध-विराम की एकपक्षी घोषणा में उनकी घबड़ाहट का संकेत भी मिलता है। जिस तेजी से उन्होंने युद्ध बन्द किया उससे यह जाहिर होता है कि उनके आक्रमण की पुष्टता खत्म होने लगी थी और भलाई इसी में थी कि बनी हुई बात बिगड़ने से पहले युद्ध बन्द कर दिया जाये। ऐसा प्रतीत होता था मानो किन्हीं असम्भावित बातों के पैदा होने से वे सोच में पड़ गए थे और उन्हें बीच में ही रुकना पड़ा था।

लगता है कि शुरू में चीनियों का यह ख्याल था कि पराजय का पहला स्वाद चखते ही भारत के पाँव उखड़ जायेंगे और वह युद्ध बन्द करने की याचना करेगा। इस प्रकार युद्ध की जो आग उन्होंने भड़कायी थी वह फौरन ठंडी हो जायेगी। वह अपना काम पूरा कर लेंगे इसके पहले कि सारे संसार की आँखें खुलें और इस घटना के विरुद्ध उनमें प्रतिक्रिया पैदा हो।

उनकी यह आशाएँ नयी दिल्ली, कलकत्ता आदि अन्य स्थानों में स्थित उनके राजनयिकों तथा ऐजेन्टों की इन रिपोर्टों पर आधारित थीं कि भारत में फूट और अराजकता फैल रही है। चीन को यह आश्वासन मिला था कि भारत सरकार लड़खड़ा रही है और सारा देश साम्यवादी विद्रोह के लिये तैयार है—देर केवल इस बात की है कि उसे किसी बाहरी, सहानुभूतिपूर्ण निकटवर्ती साम्यवादी देश से बाह्य प्रोत्साहन मिल जाये।

चीनी यह देखकर परेशान हो गये कि वास्तव में ऐसा नहीं है। लड़खड़ा कर गिरने के बजाय, अपनी प्रतिरक्षा तथा अपने अस्तित्व मात्र की यह भीषण चुनौती मिलने के कारण सारे राष्ट्र में एकता तथा देशभक्ति का अभूतपूर्व सैलाब उमड़ पड़ा। संसद में शासकीय तथा विरोधी दलों ने सर्वसम्मति से प्रस्ताव पास किया कि यह राष्ट्र तब तक निरन्तर संघर्ष करता रहेगा जब तक आक्रमणकारी पूरी तरह से भारत भूमि से निकाल नहीं दिये जायेंगे। भारतीय साम्यवादियों ने भी सबके साथ यह शपथ ली और चीनी आक्रमणकारियों को धिक्कारा। इस दृश्य से पेकिंग की आँखें खुल गयीं।

२४ अक्तूबर को भारत द्वारा अपना प्रस्ताव रद्द किये जाने के बाद चीन ने पुनः आक्रमण शुरू किया और सेला तथा बोमडीला में भारत को बुरी तरह पराजित किया। २० नवम्बर तक चीनी सेनाएँ तेजपुर से ४० मील के फासले पर फुटहिल तक आ गयी थीं। इस प्रकार वे नेफा में अपनी दावा-रेखा तक पहुँच गये थे। २१ नवम्बर की रात को चीनियों ने युद्ध विराम की एक पक्षीय घोषणा कर दी और इस प्रकार भारत को यह मौका नहीं दिया कि वह चीनी प्रस्ताव रद्द करे।

युद्ध-विराम की घोषणा से भारत को चेतावनी दी गयी थी कि युद्ध फिर शुरू कर दिया जायेगा यदि भारतीय सेनाओं ने मैकमहोन रेखा तक बढ़ने या पूर्वी सेक्टर में धागला और लाजू क्षेत्र पर कब्जा करने का प्रयत्न किया, यदि मध्य सेक्टर में भारतीय सेना २० किलोमीटर पीछे नहीं हटी या बाराहोती पर उसने अपना शासन कायम रखा और यदि पश्चिमी सेक्टर में भारतीय सेना २० किलोमीटर पीछे नहीं हटी या उसने उन ४३ चौकियों पर पुनः अधिकार करने का प्रयत्न किया, जिन्हें चीनी अन्तिम आक्रमण में उखाड़ चुके थे।

इस घोषणा के अन्तर्गत पश्चिमी सेक्टर में चीन ने यह दावा किया कि अपने अन्तिम आक्रमणों द्वारा वे जिन स्थानों पर पहुँच गये थे वही उनकी नवम्बर १९५९ की वास्तविक अधिकार रेखा है। फलस्वरूप चीनी माँग का अर्थ था कि भारतीय सेना अपनी ही भूमि पर २० किलोमीटर पीछे हट जाये।

जिस युद्ध को उन्होंने स्वयं शुरू किया था उसे खत्म करने के लिए इतनी जल्दी क्यों ?

पहली बात तो यह थी कि नवम्बर आ गया था और किसी भी क्षण हिमालय की असहनीय सर्दी शुरू होने वाली थी—शीघ्र ही हर चीज पर हिम की सफेद यवनिका गिरने वाली थी। चीनियों के लिए तुरन्त निश्चय करना आवश्यक था क्या उनके लिए यह उचित था कि आक्रमण की सीमा भारतीय मैदानों में आगे तक बढ़ा दें जब कि उनका संचार तन्त्र हद से ज्यादा फैल गया था और कुछ दिनों में बर्फ से अवरुद्ध हो सकता था ? या यह उचित

था कि अच्छे समय में ही आक्रमण बन्द कर दें, अपने युद्ध लाभों को सुदृढ़ और संगठित करें और शत्रु प्रदेश में आगे तक बढ़ कर लम्बी अवधि के युद्ध में फँस कर इन लाभों को दांव पर लगाने के बजाय आहत और अपमानित भारत को अपने द्वारा प्रस्तावित राजनैतिक समझौते को स्वीकार करने पर विवश करें ? इस दूसरी बात के लिए पेकिंग सरकार तैयार नहीं थी क्योंकि घर में और बाहर बहुत-सी गम्भीर समस्याएँ दरपेश थीं।

भारत को इंगलैंड और अमरीका से सैनिक सहायता मिलने की सम्भावना से चीन और भी डर गया था। ३ नवम्बर को अमरीकी अस्त्रों तथा सैनिक साधनों का पहला खेप दमदम हवाई अड्डे पर उतरा था और चीन को यह चेतावनी थी कि वह अपना आक्रमण रोक दे।

वास्तव में अमरीका, कनाडा, इंगलैंड और आस्ट्रेलिया ने स्वयं भारत को सैनिक सहायता देने का प्रस्ताव रखा था ताकि वह चीनी आक्रमण का मुकाबिला कर सके। ७५ देशों ने भारत को नैतिक सहायता दी थी।

सारे संसार का जनमत भारत पर आक्रमण करने के लिए चीन को धिक्कार रहा था। चीन ने अब तक यह नहीं समझा था कि उसके विरुद्ध इतनी तीव्र प्रतिक्रिया पैदा हो जायेगी जिससे चीन के एक शान्तिप्रिय देश होने का स्वरूप कलंकित हो जायेगा। वास्तव में साम्यवादी गुट में भी रूस तथा अन्य देशों ने चीन को भारत पर आक्रमण करने के लिए धिक्कारा था।

सोवियत संघ उस समय क्यूबा के गम्भीर मामले में फंसा हुआ था इसलिए पहले उसने भारत को यह राय दी कि पेकिंग के अक्तूबर के प्रस्तावों को स्वीकार कर ले। बाद में यह पता चला कि ख्रुश्चेव माओ त्सेतुंग से इस बात पर बहुत क्रुद्ध थे कि माओ ने उनकी सारी योजना ही बिगाड़ दी थी। चीनी आक्रमणशीलता के सोवियत संघ द्वारा धिक्कारे जाने से इन दोनों विशाल साम्यवादी देशों के बीच दरार पड़नी शुरू हो गयी थी। वास्तव में ख्रुश्चेव ने श्री नेहरू को स्पष्ट रूप से यह लिखा था कि सोवियत संघ इस बात का बुरा नहीं मानेगा कि भारत ने चीन से अपनी रक्षा करने के लिए अमरीका से सैनिक सहायता प्राप्त की है।

संयोग से भारत को इस अवसर यह भी पता चल गया कि अफ्रीकी-एशियायी देशों में उसके ऐसे बहुत कम मित्र हैं जो चीन के खिलाफ उसके साथ खड़े होने को तैयार होंगे। भारत को ज्यादा सहानुभूति साम्यवादी देशों से मिली थी।

५५ अफ्रीकी-एशियाई देशों में से केवल दो भारत की सहायता करने के लिए आगे बढ़े और १८ देशों ने भारत के प्रति केवल सहानुभूति प्रगट की, वह भी भारत द्वारा बहुत मनाये-जाने पर।

इस बीच चीनी नेफा क्षेत्र म अपनी दावा-रेखा तक तो पहुँच ही चुके थे। पश्चिमी सेक्टर म पूरे अक्साई चिन प्रदेश पर कब्जा करने का उनका तत्कालीन उद्देश्य भी पूरा हो चुका था। इससे ज्यादा भारतीय भूमि पर कब्जा करने पर तो ससार की आँखों मे अपने आप को सही साबित करना असम्भव हो जायेगा।

इन सब कारणो से चीनियों ने निश्चय किया कि बात बिगडने से पहले ही युद्ध बन्द कर दें। क्योंकि उन्हें यह मालूम था कि युद्ध बन्द करने के लिए उनके किन्हीं भी प्रस्तावों को श्री नेहरू स्वीकार नहीं करेंगे और न समझौते की बात चीत करने के लिए समय बचा था—इसलिए २१ नवम्बर को चीन ने युद्ध-विराम की एक पक्षीय घोषणा कर दी और समझौते के लिए अपनी शर्तें रख दी।

लेकिन सवाल अब तक यह है कि चीन ने युद्ध शुरू ही क्यों किया था?

भारत तिब्बत सीमा समस्या पर भारत से बातें करने मे चीन की ओर से एक बात बराबर स्पष्ट थी और वह थी कि चीन अक्साई चिन क्षेत्र पर अपना पूर्ण अधिकार होने का जबरदस्त महत्व देता है। वास्तव मे यह आग्रह चीनी दृष्टिकोण से सारी बातचीत का आधार सूत्र था।

१९६० मे चाउ इन लाई नयी दिल्ली आये थे और उन्होंने श्री नेहरू के सामने प्रस्ताव रखा था। कि यदि भारत चीन को अक्साई चिन प्रदेश दे दे तो चीन मैकमहान रेखा को स्वीकार करने को तैयार है। श्री नेहरू ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था।

बाद मे २४ अक्तूबर के प्रस्तावो और २१ नवम्बर के एक पक्षीय युद्ध विराम की शर्तों में भी चीन का यही आग्रह था—वह मैकमहोन रेखा स्वीकार करने को तैयार था लेकिन पूर्वी लद्दाख मे एक इच भूमि भी छोड़ने को तैयार नहीं था।

२१ नवम्बर के युद्ध-विराम की शर्तों मे चीन की यह माग कि सितम्बर १९६२ के बजाय नवम्बर ५९ की पूर्व स्थिति पुन स्थापित हो उनके इस इरादे को प्रमाणित करता है कि व न केवल ज्यादा बडे भूप्रदेश पर अपना अधिकार कायम रखना चाहते थे बल्कि सारे अक्साई चिन तथा उसके आस-पास के इलाके से भारत को पूरी तरह निकाल देना चाहते थे। वास्तव में नवम्बर १९५९ के बाद ही भारत ने पूर्वी लद्दाख मे कई नयी सैनिक चौकियाँ स्थापित की थी जो उस प्रदेश की चीनी चौकियों के बीच फँसी हुई थीं।

२१ नवम्बर क युद्ध-विराम की शर्तों के अनुसार पूर्वी सेक्टर मे भारतीय तथा चीनी दावा-रेखाओ क बीच कोई विशेष अन्तर नही था। लेकिन पश्चिमी सेक्टर मे चीनी सारे अक्साई चिन प्रदेश पर (जिसमे हो कर तिब्बत सिक्यांग मार्ग

तथा सहायक सड़कों का पूरा जाल गुजरता है) अपना एकाधिकार क़ायम रखना चाहते थे। वास्तव में इस बात को निश्चित करने के लिए कि यह प्रदेश उन्हीं के कब्जे में रहेगा, चीनियों ने कई और भी शर्तें लगा दी थीं। भारत को स्पष्ट रूप से जता दिया गया था कि न तो उसे ८ सितम्बर १९६२ से पहले स्थापित की हुई स्थितियों को दोबारा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए और न तिब्बत सिक्यांग मार्ग से कुछ दूर पर स्थित अपनी ४३ चौकियों पर फिर से अधिकार करने की कोशिश करनी चाहिए।

दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति, डा० गांगुली के अनुसार लद्दाख तथा नेफा के सीमान्त प्रदेशों पर चीनी दावे का आधार भूराजनीतिक है। सिक्यांग तथा तिब्बत (जो हिमालय में शहतीर की तरह धंसे हुए हैं) चीन के अनुसार ऐशिया में साम्यवादी प्रभाव के प्रहरी है। इसलिए चीन लद्दाख के उन क्षेत्रों पर क़ब्ज़ा करना चाहता था जिनमे होकर वह सिक्यांग तथा तिब्बत के बीच सड़कें बना सके।

> "लद्दाख, तिब्बत तथा सिक्यांग पर जिस प्रभुत्त्व का स्वप्न चीन देख रहा था उसके तीन मुख्य जीवन सूत्र थे। इनमें से एक मार्ग सिक्यांग में लानकर दर्रे तथा अक्साई मार्ग से होता हुआ गर्त्तोक से कोटांग तक था। दूसरा मार्ग चुशुल और काराकोरम दर्रे से होता हुआ दमचोंक से सिक्यांग तक था और तीसरा मार्ग उत्तर प्रदेश में स्थित बाराहोती से तिब्बत तक था।"

सोवियत तुर्किस्तान तथा सिक्यांग के बीच सीमा अनिश्चित होने के कारण (जो कभी भी संघर्ष की जड़ बन सकता था) और सोवियत संघ तथा चीन के बीच की खाई दिन व दिन चौड़ी होने की वजह से चीन के लिए यह अनिवार्य हो गया था कि मध्य एशिया के इस दूरस्थ प्रान्त से वह कुशल तथा तुरन्त संचार सम्बन्ध रखे।

आज यह आम तथ्य है कि जब रूस ने भारत के प्रति चीन के आक्रमणशील व्यवहार को धिक्कारा था तो उनके पीछे मॉस्को तथा पेकिंग के बीच आदर्श सम्बन्धी मतभेद के अतिरिक्त और भी कारण थे। वास्तव में १९५९ में ही भारत-तिब्बत सीमा पर चीन की नीति की सोवियत संघ ने कड़ी आलोचना की थी। सोवियत दृष्टिकोण यह था कि इस प्रकार की नीति पूर्व-पश्चिम के शीत युद्ध में साम्यवादी गुट के दांव-पेचों के विरुद्ध पड़ती थी क्योंकि इससे यह खतरा था कि इससे डर कर अपक्ष देश पश्चिम की ओर झुक जाएंगे।

लेकिन वास्तव में सोवियत संघ को इस बात की चिन्ता थी कि मध्य एशिया में अपने सीमान्त को वह अनियंत्रित और विस्तारवादी चीन से सुरक्षित रखे। पेकिंग सरकार ने अपनी इस नीति को कभी छिपा कर नहीं रखा था कि वह

पुरानी 'असमान संधियों' को सुधारना चाहती है और इन संधियों में उसके अनुसार एक वह भी थी जिसने तत्कालीन रूस तथा प्रतिक्रियावादी चीन के बीच सिक्यांग की सीमा निर्धारित की थी।

यद्यपि अक्साई चिन के बीच निर्मित तिब्बत-सिक्यांग मार्ग इस उद्देश्य से बनाया गया था कि उसके द्वारा सिक्यांग की रूस-चीन सीमा पर चीन की आक्रमण शक्ति सशक्त हो सके इसलिए जब भारत ने अपनी भूमि पर इस सड़क के बनने पर आपत्ति की तो सोवियत रूस उसके साथ था।

एक अमरीकी लेखक के अनुसार रूस के राजनीतिज्ञों के मन में सदा यह भय रहता है कि कहीं किसी दिन चीन, आक्रमण द्वारा या राजनैतिक उत्पात खड़े करके भारतीय उपमहाद्वीप पर पूर्ण प्रभाव प्राप्त न करले ऐसा होने पर सोवियत संघ चारों ओर से घिर जायेगा और पूरे सोवियत सुदूर पूर्व को पहले से अधिक खतरा हो जायगा।

यदि घोर राष्ट्रवादी नीति के कारण चीन सोवियत संघ से अपने सम्बन्ध बिगाड़ता चला गया तो उसका एक फल यह होगा कि भारत की सुरक्षा में रूस अधिक दिलचस्पी लेने लगेगा और पाकिस्तान का अपने नये मित्र चीन से हर प्रकार से ताल्लुक का प्रयत्न किया जायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यह वह समस्या है जिसमें रूस तथा पश्चिमी शक्तियों की समान दिलचस्पी है।

युद्ध शुरू करने के अन्य कारणों में एक कारण यह भी था कि चीन भारत को नीचा दिखाना चाहता था। काफी समय से यह बात प्रचलित थी कि एशिया का नेतृत्व प्राप्त करने के लिए चीन और भारत में होड़ लगी हुई है यह होड़ साम्यवादी और जनतन्त्रात्मक आदर्शों के बीच है जिनके प्रतीक चीन और भारत हैं।

एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों को चीन यह दिखा देना चाहता था कि एशिया का नेता कौन है और भारत की औकात क्या है? इस उद्देश्य से चीनियों ने भारत को अपमानित करने का तरीका निकाल लिया। सन १९६२ के युद्ध से चीन ने काफी सीमा तक यह सिद्ध कर दिया कि दक्षिण-पूर्व पर उसका एकछत्र प्रभाव है।

सन १९६२ के युद्ध से भारत के आर्थिक विकास को भी जबरदस्त धक्का पहुँचा था और चीन की दृष्टि में, इससे यह साबित होता था कि मानवी विकास के लिए जनतन्त्रात्मक तरीका व्यर्थ है, साम्यवादी तरीका उत्तम है।

× × ×

इधर तड़ित-युद्ध के जोर से चीनी तिब्बत की सीमा पार करके भारत में तेजी से घुसते जा रहे थे, उधर अफ्रीकी और एशियाई देश इन घटनाओं से अधीर और उत्तेजित हो रहे थे। उन्होंने साथ मिलकर भारत-चीन युद्ध का अन्त करने के लिए और भारत चीन झगड़े को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के लिए दोनों पक्षों को राजी करने के प्रयत्न शुरू किये।

लंका के प्रधान मन्त्री श्रीमती सिरिमावो बन्दरनायक के पहल करने पर अफ्रीका तथा एशिया के छः देश—बर्मा, कम्बोडिया, इन्डोनेशिया, घाना, संयुक्त अरब तथा लंका—१०-१२ दिसम्बर के बीच कोलम्बो में मिले। (इस सम्मेलन के लिए इन छः देशों को निमन्त्रण भेजने के कुछ ही घंटों में, चीनियों ने युद्ध-विराम की एकपक्षीय घोषणा कर दी थी।)

संक्षिप्त में, कोलम्बो सम्मेलन के प्रस्ताव यह थे :

(१) पश्चिम सेक्टर : नवम्बर २१ तथा २८ के प्रधानमन्त्री चाउ इन-लाई के प्रधान मन्त्री नेहरू को लिखे गये पत्रों के अनुसार चीनी सेना २० किलोमीटर पीछे हट जाए भारतीय सेना अपनी वर्तमान सैनिक स्थितियों पर कायम रहे। सीमा सम्बन्धी झगड़े का अन्तिम फैसला होने तक, चीनी अपयान के कारण खाली हो जाने वाले क्षेत्र विसैन्यीकरण किया हुआ इलाका होगा जिसका प्रशासन, आपसी समझौते से, दोनों पक्षों की प्रशासकीय चौकियाँ करेंगी—इस निश्चय पर इस बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए कि भारत और चीन की उस प्रदेशों में पहले क्या स्थिति थी।

(२) पूर्वी सेक्टर : अपनी-अपनी युद्ध विराम रेखाओं को दोनों सरकारों द्वारा मान्य अपनी-अपनी वास्तविक अधिकार-रेखाओं से निर्धारित होना चाहिए इस सेक्टर के बाकी क्षेत्रों के बारे में दोनों देश बाद में, आपसी वाद-विवाद के बाद, निश्चय ले सकते हैं।

इस धारा का स्पष्टीकरण सम्मेलन ने इस प्रकार किया कि इन प्रस्तावों के अन्तर्गत भारतीय सेना, उन दो क्षेत्रों को छोड़ कर जिनके बारे में दोनों सरकारों में मतभेद था, वास्तविक अधिकार रेखा के दक्षिण तक अर्थात् मैकमहॉन रेखा तक बढ़ सकती है। इसी प्रकार, उक्त दो क्षेत्रों को छोड़ कर, चीनी सेना मैकमहॉन रेखा तक बढ़ सकती है।

जिन दो क्षेत्रों की तरफ़ संकेत था वह थे त्से जांग अर्थात् थागला तथा लांगजू क्षेत्र। इन दोनों स्थानों में वास्तविक अधिकार रेखा के बारे में भारत तथा चीन में मतभेद था।

(३) मध्य सेक्टर : इस सेक्टर की समस्याओं को बिना युद्ध किये शांतिपूर्ण ढंग से सुलझा लेना चाहिए।

भारत को एक स्पष्टीकरण देते हुए कहा गया गया कि कोलम्बो सम्मेलन की यह इच्छा है कि इस सेक्टर में पूर्व स्थिति क़ायम रखी जाये और दोनों में से कोई पक्ष इस पूर्व स्थिति को भंग करने का प्रयत्न न करे।

कोलम्बो सम्मेलन ने यह बात भी स्पष्ट कर दी कि इन प्रस्तावों के बारे में सकारात्मक प्रतिक्रिया होने का अन्तिम रूप से सीमा निर्धारण करने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और दोनों में से कोई सरकार अपने को दुविधापूर्ण स्थिति में नहीं पायेगी।

जनवरी १९६३ के पहले हफ्ते मे जब लंका के प्रधान मंत्री तथा इंडोनेशिया के विदेश मन्त्री कोलम्बो सम्मेलन के प्रस्तावों को समझाने के लिए पीकिंग पहुँचे तो चीनी सरकार ने फौरन इस बात की घोषणा की कि उसकी प्रतिक्रिया सकारात्मक है। लेकिन बाद के चीनी वक्तव्य और उनके द्वारा इन प्रस्तावों की व्याख्या मे यह स्पष्ट हो गया कि इन प्रस्तावों का स्वीकार करने या कार्यान्वित करने की चीन की कोई नीयत नहीं है।

कुछ समय बाद श्रीमती बंडारनायके को लिखे गए एक पत्र मे चाउ-इन-लाई ने इस बात पर आग्रह किया कि यह प्रस्ताव कि भारतीय सैनिक अपने वर्तमान स्थानो पर ही रहें केवल पश्चिमी सेक्टर मे नहीं पूरे भारत चीन सीमा प्रदेश पर लागू होना चाहिए।

पूर्वी सेक्टर के बारे मे चीनी सरकार ने यह मांग की कि चीनी सैनिकों द्वारा खाली किये हुए उन प्रदेशों मे, जो ७ नवम्बर १९५९ की वास्तविक अधिकार रेखा के दक्षिण मे है, भारतीय सेना को फिर से नहीं घुसना चाहिए बल्कि केवल अपने प्रशासकीय कर्मचारियों को, आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक अस्त्रों से लैस करके भेजना चाहिए जैसा भारत सरकार पहले भी करती थी। साथ ही पत्र मे यह कहा गया था, चीन पूर्वी सेक्टर के ढोला क्षेत्र (थागला पहाड़ी), तथा लांगजू क्षेत्रों मे, मध्य सेक्टर के वू—जे (बाराहोती) क्षेत्र मे और पश्चिमी सेक्टर के उन क्षेत्रों मे (जिनमें कभी भारत ने ४३ चौकियां कायम की थी) प्रशासकीय चेक-चौकियाँ स्थापित नहीं करेगा सिर्फ इस शर्त पर कि भारतीय सैनिक या प्रशासकीय कर्मचारी इन क्षेत्रों मे न घुसें।

यह मांग भी उस स्पष्टीकरण के खिलाफ थी जो कोलम्बो शक्तियों ने भारत को दिया था। उस स्पष्टीकरण के अनुसार पश्चिमी सेक्टर (लद्दाख) मे भारतीय चौकियाँ वास्तविक अधिकार रेखा के किनारे किनारे थी और चीनी सैनिकों के २० किलोमीटर पीछे हट जाने से खाली हुए क्षेत्र का प्रशासन दोनों पक्षों की प्रशासन-चौकियों को करना था। कोलम्बो सम्मेलन के प्रस्तावों का यह एक 'सारभूत अंग' था। इन चौकियों के संगठन, उनकी संख्या और स्थिति के बारे मे 'भारत सरकार तथा चीन सरकार के बीच समझौता होना आवश्यक' था।

कोलम्बो सम्मेलन के अनुसार इस व्यवस्था से 'इस क्षेत्र मे भारत तथा चीन के पहले से उपस्थित होने के कारण प्राप्त अधिकारों को कोई क्षति नहीं पहुँचेगी।' (यह क्षेत्र २,५०० वर्गमील का था जहाँ से २० अक्तूबर के चीनी आक्रमण के कारण, भारतीय सैनिक लद्दाख मे पीछे ढकेल दिये गए थे। चीन ने पश्चिम मे अपनी सैनिक स्थितियों से पीछे हटने से इन्कार कर दिया है।)

चीन की द्व्यर्थक प्रतिक्रिया के विपरीत भारत सरकार ने कोलम्बो सम्मेलन के प्रस्तावों को पूरी तरह से स्वीकार कर लिया।

इसके फलस्वरूप जो गतिरोध पैदा हुआ वह आज तक चल रहा है। आज स्थिति यह कि पूर्व में चीन मैकमहॉन रेखा तक पीछे हट गए है लेकिन पश्चिम में, लद्दाख में, अब भी १५,००० वर्ग मील भारतीय प्रदेश पर उनका कब्जा है।

इसके बाद, १ मार्च १९६३ को चीनी सरकार ने घोषणा की कि भारत-चीनी सीमा पर विभिन्न स्थानों पर २६ चेक चौकियाँ बना रहे हैं। लोक सभा में दिये गए श्री नेहरू के एक वक्तव्य के अनुसार इनमें से सात चौकियाँ एक तरफा रूप से पश्चिम सेक्टर के विसैन्यीकरण किये हुए प्रदेश में बनाली गयी थी। इस प्रकार चीन ने कोलम्बो सम्मेलन के प्रस्तावों को भंग किया था क्योंकि प्रस्तावों के अनुसार उक्त प्रदेश मे दोनों देशो की प्रशासकीय चौकियाँ स्थापित होना आवश्यक था

पूर्वी सैक्टर के विसैन्यीकरण किये हुए प्रदेशो में, जिसमें केवल १६ प्रशासकीय चौकियाँ अधिकृत थी, चीन की एक पक्षीय घोषणा के अनुसार ५२ मिली-जुली सैनिक और प्रशासकीय चौकियाँ स्थापित की गयी थीं। इन चौकियों के अलावा सीमा के किनारे, विशेषतः पूर्वी सेक्टर में काफी गश्तें लगायी जाने लगी थी।

वास्तव में, एक पक्षीय युद्ध-विराम के बाद, तिब्बत में और सीमा के पास चीन ने अपनी सेनय को बढ़ा लिया था। हमारी सीमा के किनारे, अक्तूबर १९६२ के मुकाबले, चीन की शक्ति अब कहीं अधिक बढ़ गयी थी। परिस्थिति में एक और विकास यह हुआ था कि चीनी सेना ऐसे कैम्पों तथा मार्क के स्थानों तक पहुँच गयी थी जो सन १९६२ की तुलना में भारतीय सीमा के और भी निकट हैं। साथ ही यह भी देखा गया था कि भारतीय सीमा के पास के तिब्बती प्रदेश में बैरेकों, तोप-अभिस्थापनों, गोदामों तथा हवाई अड्डों को बनाने का काम तेजी से किया जा रहा है।

१०

एक व्यक्ति के उठान की हत्या कैसे हुई ?

सन् १९६२ में भारत की स्थिति में माओ के हस्तक्षेप के कारण एक व्यक्ति की ज्योतिर्मय उठान बीच में ही कट गयी।

यदि सन् १९६२ की यह दुर्घटना न होती तो लेफ्टिनेंट जनरल 'बिज्जी' कौल बहुत दूर तक तरक्की करते—शायद प्रधान सेनापति से भी बड़ा कोई पद उन्हें प्राप्त होता और देश के इतिहास में वे अपने लिए एक स्थान बना लेते। वास्तव में वलेस हैंगन ने अपनी पुस्तक 'नेहरू के बाद कौन ?' में जिन सम्भव उत्तराधिकारियों का जिक्र किया है उनमें कौल भी हैं।

अक्तूबर १९६२ में अचानक पराभव होने के समय तक सफलता की सीढ़ी पर जनरल कौल की प्रगति बिजली की तरह तेज और आँखें चौंधिया देने वाली थी। यदि माओ का साया भारत पर नहीं पड़ता तो कोई नहीं कह सकता था कि भाग्य का ज्वार कौल को किन ऊँचाइयों पर पहुँचा देता।

इस विचार से मन गम्भीर हो जाता है कि मानवी महत्त्वाकांक्षाओं के बहुरूपदर्शी यन्त्र में बनने वाले प्रतिरूप ज़रा से झटके से मिट जाते हैं। मन हो सकता है कि माओ ने अनजाने में भारत के राजनैतिक मंच से एक भावी अभ्युदय को हमेशा के लिए हटा दिया हो। यह कहना शायद अतिशयोक्ति नहीं है क्योंकि स्वयं कौल तथा कुछ और लोग यह विश्वास करते थे कि इस भूमिका को अदा करने के लिए उनके पास पर्याप्त कौशल और क्षमता है। महत्त्वाकांक्षा तो उनमें थी ही, उसके अतिरिक्त अन्य मूल गुण भी थे—असाधारण पटुदक्षता तथा स्फूर्ति, गहरा राष्ट्रप्रेम, पूर्ण आत्म विश्वास, आत्म गौरवपूर्ण अहम् भाव और राजनैतिक समझ। इसके अलावा देश के सामाजिक जीवन में उनके

ठोस तथा महत्त्वपूर्ण सम्पर्क थे और सेना के युवक अफ़सरों में उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ती जा रही थी।

'बिज्जी' कौल राजनीतिज्ञों के बीच जनरल थे और जनरलों के बीच राजनीतिज्ञ। यह उनकी अद्भुत विशेषता थी और बाद में यही उनके पराभव का कारण बनी—उनके साथी जनरल इस बात से चिढ़ते और जलते थे कि राजधानी की राजनैतिक गोष्ठी-कक्षों में वह अत्यन्त क्रियाशील रहते है और राजनीतिज्ञों को मूलतः ऐसे महत्त्वाकांक्षी प्रवर सैनिक अधिकारी में भरोसा नहीं था जिसकी साँठ-गाँठ ऊँचे-ऊँचे लोगों से थी। जब तक कौल अपने उच्च स्थान पर आरूढ़ थे तब तक सब ठीक था—उनके प्रशंसकों का दायरा बढ़ता गया और सेना मे भी उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गयी।

अंग्रेजी सैनिक परम्परा से प्रभावित भारत के वरिष्ठ सैनिक अधिकारी राजनीति से ऐसे बचते थे जैसे किसी संक्रामक रोग से और इसलिए कौल की राजनैतिक युक्तिचालों को देखकर वे उखड़ जाते थे। और बाद में जब अपने से ऊँचे अधिकारियों के सिर से ऊपर कौल सैनिक हेडक्वार्टर के मामलों में बेजा रूप से दखल देने लगे तो उखड़ने के बजाय इन वरिष्ठ सैनिक अधिकारियों के अन्दर क्रोध की भावना पैदा होने लगी। बस महसूस करने लगे थे कि इस प्रकार का व्यवहार सैनिक व्यवहार संहिता के विरुद्ध है। लेकिन जहाँ तक कौल का सम्बन्ध था, वरिष्ठ सैनिक अधिकारियों की इस मनोवृत्ति से उनका पक्ष कमजोर हो गया था।

वास्तव में कौल अपने साथी जनरलों से भिन्न थे। और हर सम्भव रूप से वह अपनी इस भिन्नता को जताने से चूकते नहीं थे। अंग्रेजी जनरलों के नमूने पर ढले हुए भारतीय जनरलो की आदतों से भिन्न, कौल न शराब पीते थे, न सिगरेट, हँसी-खेल, डान्स-पार्टी और पश्चमी ढब के सामाजिक जीवन मे उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं थी। उनका अधीर, नाटकीय व्यक्तित्व दूसरों को उनकी ओर ध्यान देने के लिए विवश करता था। १९४२-४३ के बर्मा युद्ध में दो वर्ष तक जन-सम्पर्क अधिकारी के रूप में काम करना व्यर्थ नहीं गया था। पत्र और पत्रकारों से कौल की खूब पटती थी; पत्रकारों के प्रति वह मैत्री तथा सद्भावनापूर्ण थे, दिल खोलकर बातें करते थे और पत्रों को दिलचस्प मसाला प्रदान करते थे।

रमल विश्वास करते थे कि जन नेता को अपने व्यक्तित्व के चारों ओर एक तिलस्म पैदा कर लेना चाहिए। जनरल मॉन्टगोमरी का भी यही विश्वास था। अपनी विद्युतीय स्फूर्ति, साहसपूर्णता, भयहीनता और योगियों समान जीवन के बल पर कौल ने अपने व्यक्तित्व के चारों तरफ़ भी एक तिलस्म बुन लिया था। वेलेस हैगन ने लिखा है कि कौल को देखकर ऐसा लगता था मानो कोई व्यक्ति भाग्यदेवी से मुलाक़ात करने के लिए तेजी से भागा जा रहा हो।

प्रदर्शनशील स्वभाव का होने के कारण, वह अपने साथी अफसरों के सामने अक्सर यह जता देते थे कि प्रधान मन्त्री और रक्षा मन्त्री पर उनका विशेष प्रभाव है और इससे दूसरे अधिकारी चिढ़ जाते थे। वह साथी अधिकारियों पर यह भी स्पष्ट कर दिया करते थे कि महत्त्वपूर्ण राजकीय मामलों में प्रधान मन्त्री उनकी सलाह लेते हैं और ऐसे कथन कौल के खिलाफ़ उनके साथी अधिकारियों के मन में ज़हर का एक और बीज बो देते थे।

अपने उन्नत दिनों में कौल ने कई वरिष्ठ सैनिक अधिकारियों को नाराज़ कर दिया था और इस प्रकार सेना में उनके अनेक शत्रु बन गये थे। अतः जब सन् १६६२ में कौल का पतन हुआ तो वे सब चील गिद्धों की तरह उन पर टूट पड़े।

कौल, वास्तव में प्रधान मन्त्री के निकटतम और विश्वस्त व्यक्तियों में से थे। स्वतन्त्रता मिलने के बाद उनको कई मिशन दिये गये थे—शेख अब्दुल्ला को कैद करने के काम का पर्यवेक्षण करने के लिए वे श्रीनगर भेजे गये थे—और इनसे राजनैतिक तथा सैनिक क्षेत्रों में उन्हें एक अद्भुत स्थिति प्राप्त हो गयी थी। इसके फलस्वरूप दोनों क्षेत्रों के अवसरवादी तथा अपने को आगे बढ़ाने की इच्छा रखने वाले लोग उन्हें घेरे रहते थे।

कौल को इन बातों से आनन्द मिलता था। तरह-तरह के लोग उनके घर और कार्यालय के बाहर भीड़ लगाये रहते थे और वे उनमें से हर एक से मिलते थे हर एक की सुनते थे। लोग उनके पास अपनी व्यक्तिगत समस्यायें, नौकरी सम्बन्धी शिकायतें, यहाँ तक कि राजनैतिक उलझनें भी लाते थे हल करवाने के लिए या इसलिए कि उनकी दास्तानें श्री नेहरू के कानों तक पहुँच जायें। कौल इन सब लोगों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते थे और इस तरह सब की मित्रता और वफ़ादारी उन्हें प्राप्त हो जाती थी।

भारत के वरिष्ठ सैनिक अधिकारियों में केवल कौल में ही यह गुण था कि वह राजनीति में पटु थे—यही नहीं उनमें राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाएँ भी थीं। साथ ही अपनी सारी मानसिक आधुनिकता के बावजूद कौल को ज्योतिष में विश्वास था और एक ज्योतिषी ने यह भविष्यवाणी की थी कि एक दिन वह भारत के शासक बनेंगे।

लेकिन इस सबके अलावा, कौल में अद्भुत संगठन तथा कार्यकारी क्षमता थी, लाल फ़ीते के अत्यन्त सघन जंगल के बीच से अपना रास्ता काट कर वह काम करवा लेते थे। अत्यन्त कम समय में, 'अपने आप बनाओ' की नीति लागू करके अम्बाला में सैनिकों के लिए मकान खड़े करने का करिश्मा दिखा कर उन्होंने प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। यह काम उन्होंने मशहूर ४ थे पैदली डिवीजन से कराया था। इतने प्रसिद्ध डिवीज़न से इतना छोटा काम कराने को भी उनके रूढ़िवादी साथी अफ़सरों ने कौल के ख़िलाफ़ ही आँका था।

जब नेफ़ा युद्ध में इस ४थे पैदली डिवीज़न ने अपनी रण-क्षमता का अत्यन्त असन्तोषजनक परिचय दिया तो इन्हीं रूढ़िवादी अफ़सरों ने इसका कारण यह बताया कि इस डिवीज़न के वीर सैनिकों को पहले राज-मजदूरों की तरह इस्तेमाल किया जा चुका था जिसकी वजह से वे काफ़ी समय तक समर-कार्य से दूर रहे थे और उनका शौर्य ठंडा पड़ गया था।

जब कौल, संयुक्त राष्ट्र के तटस्थ प्रत्यावर्तन कमीशन के सभापति, जनरल थिमैया के स्टाफ़ प्रमुख होकर कोरिया गये तो उन्होंने समाचार संसार में सनसनी पैदा कर दी और उनके व्यक्तित्व के चारों ओर प्रतिवादों की झड़ी लग गयी। कोरिया में स्थित भारतीय दस्ता दो पक्षों में विभक्त हो गया : एक चीनपक्षी, एक अमरीका पक्षी। चीनपक्षी दल के नेता कौल थे और अमरीका पक्षी दल के नेता जनरल थिमैया।।

यह स्पष्ट था कि कौल की चीनियों से बहुत पटती थी। चीन ने कौल को राज्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया और जहाँ भी वह गये उनका ज़ोरदार स्वागत हुआ। कौल पर यह भी आरोप लगाया गया कि जनरल थिमैया की तथाकथित अमरीकी पक्षी कार्रवाइयों के खिलाफ़ वह प्रधान मंत्री को सूचनाएँ भेजते रहते हैं। इस सन्देह के कारण सैनिक दायरों में उनके विरुद्ध काफ़ी अप्रियता फैल गयी। सौम्य स्वभाव के, सौजन्यपूर्ण थिमैया भारतीय सेना के अधिकारी वर्ग के आदर्श थे और इसलिए उन्होंने उस व्यक्ति को धिक्कारा जिसने ऐसे अच्छे व्यक्ति तथा वरिष्ठ अधिकारी के खिलाफ़ जासूसी की थी। वास्तव में यदि श्री नेहरू और मेनन को कौल में व्यक्तिगत दिलचस्पी न होती तो सैनिक पदसोपान उन्हें कभी मेजर जनरल के पद से आगे नहीं बढ़ने देता।

प्रधान सेनापति की मर्ज़ी के खिलाफ़ और कृष्ण मेनन की जिद पर कौल को पहले लेफ़्टिनेंट जनरल बनाया गया और फिर क्वार्टर मास्टर जनरल नियुक्त किया गया। तत्कालीन सी० जी० एस०, लेफ़्टिनेंट जनरल एल० पी० सेन के अनुसार क्वार्टर मास्टर जनरल के पद पर कौल की नियुक्ति सैनिक चुनाव मंडल के द्वारा नहीं हुई थी। लेकिन "कौल के अलावा मेनन किसी और की तरफ़ देखने को भी तैयार नहीं थे और इसलिए थिमैया कौल को स्वीकार करने पर मजबूर हो गये थे—लेकिन काफ़ी गम्भीर झगड़े के बाद। थिमैया स्वभाव से सज्जन थे इसलिए कौल के पूछने पर उन्होंने इन्कार किया कि यह बात उनके त्याग-पत्र देने का कारण थी।"

लेकिन क्वार्टर मास्टर जनरल की हैसियत से कौल अत्यन्त सफल साबित हुए। अपनी तीव्र पहल-क्षमता से उन्होंने उत्तरी सीमान्त पर सड़कें बनाने का एक तड़ित-प्रोग्राम शुरू करा दिया हालांकि १९६२ के चीनी आक्रमण के समय यह प्रोग्राम बीच में ही स्थगित करना पड़ा।

वास्तविक युद्ध का रण अनुभव न होना कोई बड़ी कमी नहीं थी। जिन लोगों ने द्वितीय महायुद्ध में बड़ा नाम कमाया वे उसके प्रारम्भ होने समय केवल अवर स्टाफ अधिकारी थे। द्वितीय महायुद्ध के पूरे दौरान में जनरल कलवन्त सिंह उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त पर पठान कबीलों की जमी सरगर्मी पर निगाह रखने का ही काम करते रहे थे। लेकिन फिर भी १९४७-४८ के कश्मीर युद्ध में कलवन्त सिंह ने कोर कमाण्डर की हैसियत से एक अद्भुत सेनानी होने का परिचय दिया था।

यह होते हुए भी साथी अधिकारियों को कौल के खिलाफ यह आपत्ति थी कि न केवल गत महायुद्ध या कश्मीर युद्ध में उन्होंने कोई रण अनुभव प्राप्त किया था बल्कि द्वितीय महायुद्ध भर, अपने निर्णयात्मक वर्षों में, व केवल एक सर्विस कोर अधिकारी रहे थे और वास्तविक रण के निकटतम वे सिर्फ तभी पहुँचे थे जब एक मोटर यातायात बटालियन का नेतृत्व करने के लिए उन्हें मराकान भेजा गया था।

अतः कौल के खिलाफ बराबर यह प्रतिकूल भाव रहा कि उन्हें रण अनुभव नहीं है और उनके साथी अधिकारियों ने उन्हें कभी एक योद्धा के रूप में स्वीकार नहीं किया। सत्य यह है कि कौल को रण स्थल पर सैनिकों को कमाण्ड करने का पहला मौका सन १९६२ में नेफा मोर्चे पर ही मिला और वह भी कोर कमान्डर की हैसियत से।

अपनी पुस्तक 'अनकही कहानी' में स्वयं कौल इस बारे में एक अजीब-सा आत्म-संकोच प्रदर्शित करते हैं कि उन्हें कभी एक बटालियन कमाण्ड करने का अवसर नहीं मिला। वह विस्तारपूर्वक बताते हैं कि बहुत कोशिशें करने के बावजूद, भाग्य की किसी न किसी चाल के कारण, वे किसी पैदली दस्ते के निकट फटक भी नहीं सके। काफी समय के बाद, १९४९ में—पंजाब में स्थित एक पैदली ब्रिगेड का कमाण्ड करने के लिए नियुक्त किये गये और उसके बाद उन्होंने अम्बाला में स्थित प्रसिद्ध ४ थे पैदली डिवीजन को कमाण्ड किया।

१९६१ में सी० जी० एस० के पद पर नियुक्त होने पर कौल इस समस्या की विशालता और अनिवार्यता के बारे में अत्यन्त सजग हो गये कि उत्तरी सीमान्त की प्रतिरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ और संगठित करना सबसे पहली आवश्यकता है। अतः इस काम को उन्होंने अपनी स्वाभाविक क्षमता और स्फूर्ति के साथ फौरन हाथ में ले लिया। परिस्थिति को निजी तौर पर आंकने और प्रतिरक्षा आवश्यकताओं का सही अन्दाज लगाने के लिए उन्होंने स्वयं लद्दाख तथा अन्य इलाकों के अग्रिम क्षेत्रों का दौरा किया। कौल ने मुझे बताया कि जिन १६ महीनों में वह उस पद पर रहे उनमें उन्होंने रक्षा मन्त्री को इस विषय पर आठ पत्र लिखे कि उत्तरी सीमान्त की [illegible] ऊँचाइयों पर

युद्ध करने के लिए सेना को उचित और पर्याप्त सैनिक साधन प्रदान करना उस समय की प्राथमिक प्रतिरक्षा आवश्यकता है।

अगस्त १९६१ में श्री मेनन को लिखे हुए एक पत्र में कौल ने स्पष्ट रूप से कहा था "यदि आवश्यक सैनिक साधनों को फ़ौरन प्राप्त नहीं किया गया तो देश पराजित हो जायेगा।" मेनन ने वाक्य के अन्तिम भाग पर आपत्ति की और कौल से उसे बदलने को कहा लेकिन कौल ने इनकार कर दिया तथा आग्रहपूर्वक वाक्य को यथास्थान रखा।

कौल पर यह आरोप लगाया गया है कि उन्होंने बिना सोचे समझे 'अग्रिम नीति चालू कर दी थी और १९६१ के पतझड़ में सीमान्त की दूरस्थ स्थितियों पर अंधाधुन्ध चौकियाँ कायम करवा दी थीं जिसके कारण चीन चिढ़ गया था और उसने अगले वर्ष ही ऐसे मौके पर आक्रमण कर दिया था जब भारत कतई तैयार नहीं था।

वेलेस हेगन के अनुसार कौल ने युक्ति चाल से मेनन को पीछे छोड़ कर, सीधे श्री नेहरू से इस बात की अनुमति ले ली थी कि भारतीय भूमि पर बनी चीनी चौकियों का मुकाबला करने के लिए अग्रिम चेक-चौकियाँ स्थापित कर ली जायें। मेनन का बहुत दिनों यह आदेश कि भारतीय गश्ती दस्ते किसी हालत में चीनियों से मुठभेड़ न करें, रद्द कर दिया गया और भारतीय सैनिकों को यह आदेश दिया गया कि अपनी चौकियों पर डटे रहें और यदि चीनी उन्हें भारतीय भूमि पर स्थित किसी चौकी से निकालने की कोशिश करें तो वे गोली चलाना शुरू कर दें।

कौल को धिक्कारने वाले लोगों ने उन पर यह आरोप लगाया है कि उन्होंने सीमान्त पर एक उत्तेजक नीति को कार्यान्वित करना शुरू कर दिया था बिना यह ध्यान दिये कि सैनिक रूप से उसकी पुष्टि करना असम्भव है। कहा जाता है कि तत्कालीन प्रधान सेनापति जनरल थिमैया ने अग्रिम नीति को कार्यान्वित करने के लिए कौल की योजना का विरोध किया था क्योंकि वह जानते थे कि संभार-तन्त्र के पूर्णतः अव्यवस्थित होने के कारण यह प्रयत्न मात्र एक भयानक स्वप्न साबित होगा।

लेकिन अपनी पुस्तक 'अनकही कहानी' में कौल ने स्पष्ट किया है कि 'अग्रिम नीति' को कार्यान्वित करने का फैसला श्री नेहरू के कार्यालय में हुई एक मीटिंग में लिया गया था जिसमें उनके और कौल के अलावा श्री मेनन और जनरल थापर भी उपस्थित थे।

सैनिक मान-चित्र पर दिखाये गये कई चीनी अतिक्रमणों को देख कर श्री नेहरू ने उस मीटिंग में कहा था कि जो पक्ष प्रतीक रूप में एक चौकी भी स्थापित कर देगा वह उस विशेष क्षेत्रांश पर अपना अधिकार स्थापित करने में

सफल होगा क्योंकि वास्तविक अधिकार इस में से तो माग कानूनी अधिकार भी माना जाता है। और यदि चीनी चौकियाँ बना सकते थे तो हम क्यों नहीं बना सकते ?

"उनसे (श्री नेहरू से) कहा गया कि सख्या और सभार सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण हम चीनियों से इस होड में नहीं जीत सकते। यदि उनका मुकाबिला करने के लिए हमने और चौकियाँ स्थापित की तो भाभारिक दृष्टिकोण से हम उन चौकियों का पोषण नहीं कर पायेंगे। यह भी कहा गया कि अपने अधिक उत्तम सैनिक साधनों के जोर से वह हमारी छोटी छोटी चौकियों की स्थिति ऐसी कर सकते हैं कि व टिकने मे असमर्थ हो जायें।

"इसके बाद एक विवाद शुरू हो गया जिसका नतीजा मेरे ख्याल से यह निकला कि क्योंकि इस बात की कोई सम्भावना नहीं थी कि चीन भारत के साथ युद्ध छेड़े, इसका कोई कारण नहीं था कि जहाँ तक चौकियाँ स्थापित करने का प्रश्न है हम चीनियों के साथ शतरंज का खेल न खेलें और बुद्धि-कौशल का युद्ध न करें। यदि वे एक क्षेत्र मे आगे बढ़े तो हमें दूसरे में आगे बढ़ जाना चाहिए।

"अर्थात् चीनियों के साथ होड कायम रखी जाये और जहाँ तक सम्भव हो, उन क्षेत्रों मे जिन्हें हम पूर्णरूप से भारत का अग समझते हैं, अपनी कुछ प्रतीक रूपी चौकियाँ स्थापित की जायें। हमारे इस प्रतिरक्षा कदम से चीन अधिक से अधिक चिढ़ जायेगा लेकिन इससे अधिक और कुछ न होगा। मेरे ख्याल मे इस प्रकार सीमान्त के सम्बन्ध मे हमारी यह नयी नीति प्रतिपादित हुई थी (जिसे कुछ लोग 'अग्रिम नीति' भी कहते हैं)।"

लेकिन इस बात पर विश्वास करने के भी कारण हैं कि ५ अक्तूबर, १९६२ तक (जब गोले उनके चारों तरफ छूटने लगे) स्वयं जनरल कौल यह नहीं समझते थे कि चीनी भारत पर आक्रमण शुरू कर देंगे। 'अनकही कहानी' में वे स्वीकार करते हैं कि जब तक ४थी कोर सगठित नहीं हुई तब तक "विभिन्न हैडक्वार्टरों के अधिकारियों के मन मे सामान्यतः इस बारे मे सन्देह था कि चीन और भारत के बीच युद्ध इतनी जल्दी शुरू हो सकता है। इसलिए हम इस सम्भावित सकट के प्रति बहुत कम सजग और सचेत थे। स्पर्धा में आगे होने के बजाय हम बहुत देर से जागे और यह भी थागला टोला क्षेत्र में चीनी अतिक्रमण के बाद। इसके बाद घटनाक्रम इतना तेज हो गया कि हमारे पाँव उखड़ गये।"

सन् १९६१ के अन्त तक लद्दाख और नेफ़ा प्रदेशों में हमने ५० से अधिक चौकियाँ बना दी थीं। कौल का यह मत है कि विरोधी पक्षों तथा जनमत के दबाव के कारण श्री नेहरू को यह ख़तरनाक नीति अपनानी पड़ी थी यह सोच कर कि इससे देश के लिए कोई विशेष संकट खड़ा नहीं होगा।

केवल वही लोग जो पूर्वाग्रह से अन्धे हैं कौल पर नेफ़ा में भारत की दुर्दशा का सारा अपराध थोप सकते हैं—विभिन्न सीमाओं तक इस अपराध में कई लोग साझीदार हैं, अन्तर केवल इतना है कि दुर्दशा के समय कौल नेफ़ा में स्थित ४थी कोर के कमान्डर थे।

यदि यह सही है कि कौल एक शक्तिहीन बेबुनियाद 'अग्रिम नीति' को कार्यान्वित करने के कारण सन् १९६२ के चीनी आक्रमण की आग भड़काने के उत्तरदायी थे तो काफ़ी हद तक अपराध उनका है। लेकिन प्राप्य प्रमाणों से यह भी पता चलता है कि 'अग्रिम नीति' को कार्यान्वित करने का निश्चय एक उच्च स्तरीय मीटिंग में श्री नेहरू द्वारा लिया गया था यद्यपि यह सम्भव है कि इस निश्चय के लिए कौल ने श्री नहरू को उकसाया हो।

साथ ही यह भी सही है कि सी० जी० एस की हैसियत से कौल ने इस नीतिका ज़ोरदार ढंग से विरोध नहीं किया था और इस संकट को स्पष्टरूप से नहीं जताया था जो इस नीति को कार्यान्वित करने से पैदा हो सकता था और वह भी विशेषतः इसलिए कि भारतीय सेना उस समय युद्ध करने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थी। ऐसा उन्होंने शायद इसलिए किया था कि खुद वे भी यह विश्वास करते थे कि चीनी 'भौंकते रहेंगे, काटेंगे नहीं'।

एक दूसरा इल्ज़ाम जो कौल पर लगाया जाता है वह यह है कि जब कि 'अग्रिम नीति' के सम्बन्ध में प्रधान मन्त्री का आदेश यह था कि केवल सामरिक रूप से सुदृढ़ अड्डों से ही सैनिक कार्रवाई परिचालित की जाये और बिना सोचे-समझे आगे न बढ़ा जाये, कौल ने सेना को यह आज्ञा दे दी थी कि, संचार व्यवस्था का ख्याल रखे बग़ैर, वह अनियंत्रित रूप से आगे बढ़ती चली जाये।

इसके विपरीत इस बात को साबित करने के लिए काफ़ी प्रमाण हैं कि सी० जी० एस० के पद पर नियुक्त होने के बाद कौल इस बात को अच्छी तरह समझ गये थे कि देश की सेना उत्तरी सीमान्त पर आक्रमणों का मुक़ाबिला करने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं है। रक्षा मन्त्री को लिखे गये आठ पत्र और मंत्री मण्डल की सुरक्षा समिति को लिखा गया एक पत्र इस बात का केवल एक ही प्रमाण है। सी० जी० एस के पद पर उनकी कार्य-अवधि में सेना अपने तत्कालीन आकार से १/५ और बढ़ गयी थी।

कोर कमान्डर की हैसियत से जब उन्होंने नेफ़ा युद्ध में पदार्पण किया तो वे आरम्भ से ही अनेक अक्षमताओं से दबे हुए थे। स्वयं उनकी कोर ही रातों-

रात जोड़-गाठ कर तैयार की गयी थी जिसके फलस्वरूप कई प्रकार की कमियाँ और अपर्याप्तायें पैदा हो गयी थीं।

लेकिन आखिर इसमें दोष किसका था ? जनरल चौधरी का कहना है कि सी० जी० एस० की हैसियत से नेफा युद्ध की रूप-रेखा तैयार करने के उत्तरदायी स्वयं कौल थे और बाद में यदि उन्हें पर्याप्त रूप से साधन सम्पन्न और सगठित कोर नहीं मिली तो इसकी जिम्मेदारी भी कौल की अपनी ही थी।

कौल ने प्रधान मन्त्री और रक्षा मन्त्री को यह क्यों नहीं समझाया कि एक सुगठित कोर चार दिन में नहीं बनायी जा सकती ? इसलिए कि स्वभावत कौल यह सिद्ध करना चाहते थे कि वे असम्भव को भी सम्भव कर सकते हैं। इसके अलावा उन्हें विश्वास था (और यह विश्वास कोर कमान्डर बनने ही आसमान तक पहुँच गया था) कि नेफा में कोई खास वास्तविक युद्ध नहीं होगा।

जनरल चौधरी का कहना यह है कि कौल के आदेश अस्पष्ट होते थे। उनके ख्याल से सेला की युद्ध योजना तथा वहाँ से प्रयाण करने का ढंग दोनों त्रुटियों से भरपूर थे।

कौल ने कोर कमाडर का कार्य भार सम्हाला था कि वे बहुत अधिक बीमार पड़ गये थे। कौल पर यह आरोप लगाना कि कौल के हाथ-पाँव फूल गये थे और व बीमारी का बहाना करके चले गये थे अत्यन्त निर्मम और अनुचित बात है।

इससे बड़ा कुसूर तो भारत सरकार और सैनिक हैडक्वार्टर का था कि केवल कौल का मुँह फिर से चिट्टा करने के लिए उन्होंने एक बीमार व्यक्ति को इतना महत्वपूर्ण काम सम्हालने के लिए मोर्चे पर भेज दिया था। जब हर चीज हमारे विपरीत थी तो कोर हडक्वाटर में हमारा कर्णधार एक कटुतापूर्ण, मानसिक रूप से परेशान और शारीरिक रूप से अस्वस्थ व्यक्ति था।

पूर्वी कमाड के सेनापति जनरल सेन ने प्रधान सेनापति थापर से शिकायत की कि कौल को फिर से क्यों भेजा गया है कोर को कमान्ड करने के लिए—उन्होंने कहा कि वे स्थानापन्न कमाडर हरबक्शसिंह से ही काम चलाना ज्यादा पसन्द करेंगे। थापर ने उत्तर दिया कि कौल का कोर कमाडर के पद को फिर से सम्हालना आवश्यक था क्योंकि 'उच्चतर लोग कौल की प्रतिष्ठा को पुनर्वासित करना चाहते थे।'

स्पष्ट रूप से सोचने और ठण्डे दिमाग से निश्चय लेने की जो क्षमता उस कठिन परिस्थिति में आवश्यक थी वह उस समय कौल में नहीं थी। यह भी एक दुर्भाग्यपूर्ण बात थी कि कौल कमान्ड शृंखला को तोड़ कर पूर्वी कमाड के सेनापति की ओर कोई ध्यान न दे कर सीधे प्रधान सेनापति, रक्षा मन्त्री

तथा प्रधान मन्त्री से सम्बन्ध रखते थे और आदेश लेते थे—इससे जनरल सेन नाराज़ हो गये थे और उनके खिलाफ़ हो गये थे। जनरल सेन का रुख यह हो गया था कि कौल अपनी मुसीबतों में खुद ही छटपटायें, वह किसी प्रकार की सहायता करने को तैयार नहीं थे।

तो क्या कोर के स्तर पर किसी और प्रकार का नेतृत्व होने से नेफ़ा के युद्ध और उसके फल में कोई अन्तर पड़ता ?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि कोर कमान्डर ऐसा व्यक्ति होता जिसे अधिक सामरिक अनुभव होता और जिसके प्रति मोर्चे पर स्थित सेना को अधिक श्रद्धा होती तो कुछ न कुछ अन्तर अवश्य पड़ता। सुदृढ़ और सुनियोजित निर्देशन से अपयान का काम व्यवस्थित और अनुशासित ढंग से होता।

कुशल नेतृत्व का अपयान करती सेना पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका एक उत्तम उदाहरण है रँमल द्वारा जर्मन तथा इटालियन सेनाओं का नेतृत्व। द्वितीय महायुद्ध की उत्तरी अफ़्रीका की लड़ाई में जनरल मॉन्टगोमरी ने अलामीन में जर्मन तथा इटालियन सेनाओं को बुरी तरह पराजित करके खदेड़ दिया था। रमल के नेतृत्व में अपयान करती हुई जर्मन तथा इटालियन सेनाएँ शत्रु से संख्या और साधनों में हीन थीं। युद्ध से आहत, थकी हुई इटालियन सेना की साहसिकता इतने नीचे (या शायद इससे भी अधिक) स्तर तक उतर गयी थी जितना सन् १९६२ में नेफ़ा से अपयान करते हुए भारतीय सैनिकों का था। लेकिन अपयान का नेतृत्व और निर्देशन रमल ने स्वयं इतने कौशल से किया कि पीछे हटते समय भी उनकी सेना का सिर ऊँचा रहा। अपने सैनिकों और सघनों की क्षति बहुत कम हुई और उल्टे, अपयान करते हुए भी, रमल ने शत्रु का बहुत नुकसान किया।

यह ज्यादती होती कि सन् १९६२ के नेफ़ा युद्ध में हम रमल की टक्कर के जनरल की माँग करते। लेकिन फिर भी इतना तो सत्य है कि कोर कमान्डर के कुशल और व्यक्तिगत नेतृत्व से हमारी सेना का अपयान भगदड़ का रूप न लेता और शायद हम स्ला तथा बोमदीला की रक्षा भी कर लेते क्योंकि यह स्पष्ट है कि यदि हमारी सेना ऐन मौके पर घबड़ा न जाती और जम कर दुश्मन का मुक़ाबिला करती तो इस बात की काफ़ी सम्भावना थी कि हमारी यह दुर्दशा न होती।

युद्ध में अपयान और अभियान दोनों ही स्वाभाविक हैं। लेकिन जब अपयान भगदड़ का रूप लेता है और उसके कारण सैनिक और साधनों की अनावश्यक क्षति होती है तो जनमत यह जानना चाहता है कि ऐसा क्यों और कैसे हुआ।

यह एक स्वयंसिद्ध सत्य है कि आक्रमणकारी पक्ष मूल रूप से अधिक अच्छी परिस्थिति में होता है क्योंकि वह आक्रमण करने और शत्रु पर

अचानक छापा मारने के समय और स्थान आसानी से चुन सकता है। यह भी इसलिए, स्पष्ट है कि शुरू में जीत उसी पक्ष की होगी। लेकिन यदि रक्षा करने वाला पक्ष पीछे धकेल दिये जाने के बावजूद अपना सन्तुलन कायम रखता है तो अपनी भूमि पर डट कर सफलतापूर्वक शत्रु से युद्ध कर सकता है। संगठित रूप से गहराई तक फैल कर शत्रु का मुकाबिला करना एक सफल सामरिक नीति होती है।

वास्तव में भारतीय सेना की बड़ी गलती यह थी कि उसने त्सेला में पैर जमा कर शत्रु का मुकाबला करने का निश्चय किया था। कई दृष्टिकोणों से त्सेला इस काम के लिए एक अनुचित स्थान था—इसके अतिरिक्त शत्रु उसे कई तरफ़ से घेर सकता था।

कई सैनिक विशेषज्ञ जनरल थोराट की इस राय से सहमत हैं कि कामेंग सेक्टर में शत्रु का मुकाबिला करने के लिए सबसे उत्तम स्थान बोमदीला था। यदि कोर अपनी सेना को त्सेला और बोमदीला के बीच न बाँट देती और अपनी शक्तियों को बोमदीला में ही केन्द्रित रखती तो युद्ध का फल निश्चित रूप से भिन्न होता।

अचानक छापा मारने के समय और स्थान आसानी से चुन सकता है। यह भी इसलिए स्पष्ट है कि युद्ध में जीत उसी पक्ष की होगी। लेकिन यदि रक्षा करने वाला पक्ष पीछे ढकेल दिये जाने के बावजूद अपना सन्तुलन कायम रखता है तो अपनी भूमि पर डट कर सफलतापूर्वक शत्रु से युद्ध कर सकता है। संगठित रूप से गहराई तक फैल कर शत्रु का मुकाबिला करना एक सफल सामरिक नीति होती है।

वास्तव में भारतीय सेना की बड़ी गलती यह थी कि उसने त्सेला में पैर जमा कर शत्रु का मुकाबला करने का निश्चय किया था। कई दृष्टिकोणों से सेला इस काम के लिए एक अनुचित स्थान था—इसके अतिरिक्त शत्रु उसे कई तरफ से घेर सकता था।

कई सैनिक विशेषज्ञ जनरल थापर की इस राय से सहमत हैं कि कामेंग सेक्टर में शत्रु का मुकाबिला करने के लिए सबसे उत्तम स्थान बोमडीला था। यदि कोर प्राप्य सेना को सेला और बोमडीला के बीच न बाँट देती और अपनी शक्तियों को बोमडीला में ही केन्द्रित रखती तो युद्ध का फल निश्चित रूप से भिन्न होता।

११

एक महान् भ्रम

उस समय हमारे प्रधान मंत्री एक ऐसे व्यक्ति थे जिनका व्यक्तित्व हिमालय की तरह ऊँचा था, जिनका एक शब्द भी देश की जनता के लिए फ़रमान था और जो एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय राजमर्मज्ञ का पद प्राप्त कर चुके थे।

जवाहरलाल नेहरू ने अपने आप को और अपने देश को यह विश्वास दिला दिया था कि युद्धोपरान्त अणु युग में, जब कि सारे संसार में अमन क़ायम रखने की जिम्मेदारी संयुक्त राष्ट्र संघ की हो गयी थी, युद्ध न सिर्फ अनावश्यक और दकियानूसी चीज बन गया था बल्कि राष्ट्रीय नीतियों को लागू करने का अस्त्र भी नहीं रह गया था। वैयक्तिक राजनय ही अब इसका एक मात्र और नया साधन था।

श्री नेहरू के आदर्शवादी दिमाग ने तुरन्त एक ऐसे अनुकूल और कल्पित संसार की स्थापना कर ली थी जहाँ से युद्ध का प्रेत सदा के लिए निर्वासित कर दिया गया है, जहाँ अधिकार शक्ति के बल पर नहीं है (जो एक अत्यन्त कालपूर्ण धारणा थी), जहाँ एक राष्ट्र का स्तर उसकी सेवा तथा युद्ध साधनों से नहीं आँका जाता है।

श्री नेहरू को विश्वास था कि रूमानी आदर्शवाद के इस कल्पित स्वर्ग में भारत, अहिंसा और आध्यात्मिक मान्यताओं की लम्बी परम्परा के आधार पर, विकास के उच्चतम शिखर तक पहुँच सकेगा और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा। और इसी विचार के अन्तर्गत श्री नेहरू ने कड़ा प्रयत्न किया था कि उनका राष्ट्र पूरी तरह इस भव्य भूमिका को अदा करने के योग्य बन जाये।

सन् १९५६ में भारतीय सम्पादकों के साथ अनौपचारिक ढंग से देश की विदेश नीति के बारे में बातचीत करते हुए श्री नेहरू ने कहा था कि यह एक महत्वपूर्ण बात है कि युद्धोपरान्त युग में, जबकि उसकी आर्थिक शक्ति नगण्य है और सैनिक क्षमता अत्यन्त साधारण, भारत अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में एक प्रभावशाली भूमिका अदा कर सकता था। यह बात युद्ध पूर्व, अणुपूर्व युग में असम्भव थी।

और विचारशील मुद्रा में प्रधान मन्त्री ने आगे कहा था यदि पूर्व-पश्चिम के बीच यह संघर्ष न होता और दोनों शक्ति गुटों के बीच शीत-युद्ध की स्थिति न होती तो पता नहीं भारत का क्या होता?

यह कथन श्री नेहरू के इस विश्वास की पुष्टि करता था कि पुराने रवैये हमेशा के लिए खत्म हो गए हैं, नया युग आ गया है, युद्ध का निर्वासित कर दिया गया है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का खेल अब सौजन्यता से खेला जाने वाला है। इससे श्री नेहरू का यह आत्म विश्वास भी झलकता था कि इस नये खेल के वह मुख्य खिलाड़ी हैं।

वास्तव में, अपनी अद्भुत पार्श्वभूमि और ख्याति के कारण श्री नेहरू ही ऐसे व्यक्ति थे जो युद्ध-आहत मानवता का नेतृत्व करके उसे नये स्वर्ग में पहुँचा सकते थे। सन् १९५० के आसपास की अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी ने उन्हें एकमत होकर एक परिपक्व राजमर्मज्ञ तथा तेजी से विकसित होते हुए और प्रभावशाली अफ्रीकी-एशियाई गुट के (जिसने संयुक्त राष्ट्र संघ में अपना सिक्का जमाना शुरू कर दिया था) एकमात्र नेता के रूप में स्वीकार कर लिया था।

इसके अतिरिक्त श्री नेहरू महान् नेता तथा प्रथम प्रधान मन्त्री थे अफ्रीका और एशिया के उस पहले देश के जिसने पश्चिमी साम्राज्यवाद की जंजीरें तोड़ कर स्वतन्त्रता प्राप्त की थी। श्री नेहरू ने अन्य औपनिवेशिक देशों के स्वतन्त्रता संग्राम को जबरदस्त प्रेरणा तथा नैतिक सम्बल भी दिया था। चारों तरफ श्री नेहरू की प्रतिष्ठा थी। सन् १९५५ के बान्डुंग सम्मेलन के पीछे श्री नेहरू ही मुख्य क्रिया शक्ति थे और उन्होंने ही इस अवसर पर अपने मित्र चाउ एन लाई का परिचय अफ्रीका तथा एशिया के नेताओं से कराया था। बड़े आत्म विश्वास तथा गौरव से अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर श्री नेहरू अपनी महान भूमिका अदा कर रहे थे।

'सह विनाश' के भय से काँपते हुए संसार को श्री नेहरू ने शान्तिपूर्ण 'सह-अस्तित्व' का महामन्त्र दिया था और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की एक नयी पद्धति प्रतिपादित की थी। नये विकसित हुए राष्ट्रों तथा पश्चिम के पुराने देशों से अपने नये दर्शन के लिए इतना हार्दिक समर्थन पाकर, श्री नेहरू पूरे जतन से जुट गये थे इस पार्थिव संसार में अपनी कल्पना के आदर्शवादी स्वर्ग का निर्माण करने के लिए।

अतः हम देखते हैं कि सन् १६५५ के आस-पास श्री नेहरू पेकिंग, मास्को, अमरीका और संयुक्त राष्ट्र संघ गये 'शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व' की शुभवार्त्ता का प्रचार करने। श्री नेहरू के नये दर्शन का दूसरा अंग था 'अपक्षवाद'। श्री नेहरू ने कहा कि 'अपक्षवाद' ही ऐसी नीति है जो दो विपक्षी शक्ति गुटों के बीच के संक्रामक तनाव को रोक सकती है। नये स्वतन्त्र हुए राष्ट्रों ने (जिन्होंने अब तक दोनों में से किसी गुट में शामिल होने का निश्चय नहीं किया था) श्री नेहरू के 'अपक्षवाद' को स्वीकार कर लिया।

श्री नेहरू ने आग्रहपूर्वक इस बात से इन्कार किया कि वे ऐसा करके एक 'तीसरे गुट' की रचना कर रहे थे—अपक्षवाद की नीति मूलतः गुटबन्दी के खिलाफ थी। उन्होंने 'तीसरी शक्ति' के नाम को भी रद्द कर दिया; इस अपक्ष संघ को उन्होंने 'शान्ति का तीसरा क्षेत्र' का नाम दिया—उनके अनुसार यह एक ऐसा शुभ और आवश्यक माध्यम था जिसके द्वारा पूर्व तथा पश्चिम के बीच सम्पर्क स्थापित हो सकता था और जिसके बीच में होने से दोनों गुटों के टकरा जाने का संकट टल सकता था।

१६५४ में जब चीन ने पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर किये तो श्री नेहरू निश्चिन्त हो गये कि उनका यह सुन्दर स्वप्न साकार हो गया है कि सारे विश्व में सहअस्तित्व की भावना क्रियात्मक रूप से प्रचलित हो। समझौते में इस बात पर जोर दिया गया था कि दोनों देश एक-दूसरे के आदर्शों को मान्यता दें, एक-दूसरे के अन्दरुनी मामलों में हस्तक्षेप न करें और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं तथा झगड़ों को हल करने के लिए शान्तिपूर्ण साधनों का प्रयोग करें। यह समझौता भारत-चीन सम्बन्धों की आधार-शिला थी और श्री नेहरू की विदेश नीति का मूल तत्त्व।

अपने आदर्शवाद तथा उत्साह में स्वयं ही डूब जाने के कारण श्री नेहरू ने यह नहीं सोचा कि अणु युग में विशाल पैमाने पर युद्ध भले ही असम्भव हो गये हों लेकिन छोटी-छोटी सीमा सम्बन्धी तथा प्रादेशिक लड़ाइयाँ बराबर चलती रहेंगी जिनमें परम्परागत अस्त्रों तथा सेनाओं का प्रयोग होगा।

एशिया के दो विशालतम देश—चीन तथा भारत के बीच हुए पंचशील समझौते को श्री नेहरू जबरदस्त महत्त्व देते थे। चीन और भारत—दो पड़ोसी देश जिनकी सीमाएँ एक-दूसरे से मिली हुई थी और जिनके आदर्श भिन्न थे—ने शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का फ़ैसला कर लिया था। श्री नेहरू द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की नयी पद्धति का यह एक गौरवपूर्ण और सफल उदाहरण था और उन्होंने निश्चय कर लिया था कि किसी भी कीमत पर वह इस उदाहरण को सफल बनायेंगे।

जबरदस्त वैयक्तिक राजनय से—जिसका मूल अंग था चीनी प्रधान मंत्री चाउ-इन-लाई से गहरी मित्रता श्री नेहरू ने भारत-चीन मित्रता को सुदृढ़

बनाने का काम प्रारम्भ किया। यह दो महान् एशियाई देश पूर्वी एशिया की नियति का निर्माण करने वाले थे।

ऐसा मानने और कहने में श्री नेहरू ने सम्भवतः ठीक राजनय से इस स्वयं सिद्ध तथ्य की ओर से मुँह मोड़ लिया था कि राष्ट्रों के कोई स्थायी मित्र नहीं होते हैं केवल उनके स्वार्थ स्थायी होते हैं।

उसी वर्ष १९५४ में जब चीन तथा भारत के बीच तिब्बत-विषयक, पंचशील समझौता हुआ चाऊ भारत यात्रा पर आये तब भारतीय पत्रकारों के साथ गैर सरकारी तौर पर बातें करते हुए श्री नेहरू ने अपने विचार प्रकट किए।

यह बातचीत दिल्ली में सुबह के नाश्ते के समय हुई थी और इस पुस्तक का लेखक भी वहाँ उपस्थित था। श्री नेहरू समय-समय पर पत्रकारों के साथ इन यात्राओं के अनुभवों और विचारों का विनिमय करना पसन्द करते थे।

उत्तेजनापूर्ण बातचीत के दौरान में श्री नेहरू ने कहा कि किसी-न-किसी दिन निश्चित रूप से इन दो महान् देशों में संघर्ष पैदा हो जायेगा और यह स्थिति सारे एशिया के लिए दुर्भाग्यपूर्ण होगी। हम सब का कर्तव्य है कि इस दुर्घटना को घटने से रोकें।

अक्तूबर '६२ तक श्री नेहरू यही करने का प्रयत्न करते रहे। श्री नेहरू के उपरोक्त कथन से उनके विचारों की ही झलक नहीं मिलती बल्कि यह भी स्पष्ट होता है कि सन् '५४ में भी श्री नेहरू को ज्ञात था कि भारत को चीन की ओर से खतरा है।

गुट निरपेक्षवाद तथा शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति भारत के लिए आदर्श थी। इसके फलस्वरूप, प्रतिरक्षा की भारी और महंगी आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिए बगैर सारे साधन और शक्तियों को आर्थिक विकास के जबरदस्त काम में लगाया जा सकता था—इस क्षेत्र में भारत को अपनी बुरी तरह पिछड़ी हुई स्थिति को ठीक करना अनिवार्य था।

इस महान् उद्देश्य को पूरा करने के लिए श्री नेहरू ने कड़ी मेहनत की, बहुत कुछ बलिदान किया—चीन की अनुचित मांगों को सहा, भारत के सीमांत पर उसके अतिक्रमणों की तरफ से आँखें मूंद लीं और काफी समय तक इन अतिक्रमणों को देश से छिपाये भी रखा—वास्तव में उन्होंने अपनी सारी राजनैतिक प्रतिष्ठा तक को दांव पर लगा दिया अपने प्रिय आदर्शों की रक्षा करने के लिए (संसद ने इन आदर्श नीतियों को भावजनित बताया था)। लेकिन पतझड़ की एक बदरंग सुबह श्री नेहरू को एक क्रूर झटके के साथ जागना पड़ा और तब—बहुत विलम्ब से—उन्होंने यह देखा कि उनका वास्ता एक ईमानदार दोस्त से नहीं, एक चालाक और सिद्धान्तहीन शत्रु से पड़ा है।

श्री नेहरू को चीन के प्रति एक भावनात्मक आकर्षण था क्योंकि भारत की तरह चीन ने भी बहुत समय तक और बहादुरी से पश्चिमी साम्राज्यवाद

के खिलाफ़ संघर्ष किया था। चीन के प्रति उनके मोह की शुरुआत सन् ३०-४० के बीच पायी जा सकती है। महायुद्ध के समय उन्होंने दिल्ली आये हुए मार्शल चियांग काई शेक से मित्रता की थी और स्वतन्त्रता मिलते ही सबसे पहले पेकिंग में भारतीय राजदूत की नियुक्ति की थी।

श्री नेहरू का चीन-प्रेम उस देश में साम्यवादी सरकार की स्थापना के बाद और भी प्रगाढ़ हो गया था। इसी कारण मार्च १९५९ में नयी दिल्ली में एक पत्रकार सम्मेलन में श्री नेहरू ने कहा था कि तिब्बत में चीनी कार्रवाइयों को (जिनके कारण दलाई लामा को भागकर भारत में शरण लेनी पड़ी थी) पत्र-सम्वादों में 'अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा कर बताया जा रहा है'। १७ मार्च, १९५९ को संसद में भाषण करते समय श्री नेहरू ने कहा था कि ल्हासा का खून खराबा "इस समय केवल दो संकल्पों का पारस्परिक संघर्ष है, शारीरिक या हथियारबन्द संघर्ष नहीं।"

यूँ १९५४-५६ के बीच जब श्री नेहरू '२००० वर्ष पुरानी भारत-चीन मित्रता का बखान कर रहे थे' उस समय चीन के सरहदी दस्ते व्यस्त थे (बाद में पेकिंग के अनुसार) 'सैनिक छानबीन' में और सिक्यांग तथा तिब्बत को मिलाने वाली प्रस्तावित अक्साइ चिन सड़क के लिए दस से ज्यादा रास्तों का का पर्यवेक्षण करने में।

इन पर्यवेक्षणों में जो वैकल्पिक रास्ते पाये गये थे उनमें से कई अन्त में चुने गये मार्ग की तुलना में भारतीय भूप्रदेश में ज्यादा अन्दर तक आते थे। लेकिन अपनी ही भूमि पर होने वाली इस तमाम सरगर्मी से हमारी सरकार पता नहीं क्यों पूरी तरह बेखबर थी। हम अक्साई चिन मार्ग के अस्तित्व से उस समय तक अनभिज्ञ रहे थे जब तक चीनी सरकार ने स्वयं सितम्बर '५७ में यह घोषणा नहीं कर दी थी कि अगले महीने इस मार्ग पर आमदरफ़्त शुरू हो जायेगी। और उसके बाद भी अगले गर्मी के मौसम तक भारत सरकार ने इस बारे में कोई क़दम नहीं उठाया था।

जब भारत ने अक्साइ चिन प्रदेश में बनी इस नयी सड़क का मुआइना करने के लिए दो टोह लेने वाले दल भेजे और उनमें से एक को चीनियों ने क़ैद भी कर लिया तब भी १८ अक्तूबर, १९५८, तक श्री नेहरू पेकिंग से कोई आपत्ति नहीं कर सके।

सड़क के निर्माण के खिलाफ़ आपत्ति प्रगट करते तथा क़ैद किये हुए भारतीय दल के बारे में विनम्रतया पूछ-ताछ करते हुए श्री नेहरू ने अत्यन्त दयनीयता से लिखा था : "जैसा कि चीन की सरकार को मालूम है भारत सरकार इन छोटे-छोटे सरहदी झगड़ों को खत्म करने की इच्छुक है ताकि दोनों देशों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध क़ायम रहें।"

१ नवम्बर के अपने उत्तर में चीनियों ने आग्रहपूर्वक कहा कि अक्साइ चिन मार्ग भारतीय भूमि में नहीं, चीनी भूमि से होकर गुजरता है।

श्री नेहरू ने बाद में स्वीकार किया कि वे इन गतिविधियों से चिन्तित अवश्य हो गए थे लेकिन १९५९ तक उन्होंने ससद या जनता को इन बातों का पता नहीं चलने दिया था। उनका बहाना था "ऐसी कोई विशेष परिस्थिति पैदा नहीं हुई थी कि इस मामले को ससद के सामने रखा जाना आवश्यक हो क्योंकि हम जानते थे कि पत्र-व्यवहार द्वारा इस समस्या को सुलझाने के क्षेत्र में काफी प्रगति की जा सकेगी और उचित समय पर ससद को इस बारे में पूरी सूचना दे दी जायगी।"

श्री नेहरू ने स्वीकार किया कि "शायद यह मेरी गलती थी कि मैंने इन तथ्यों को ससद के सामने प्रस्तुत नहीं किया।" फिर भी १९५९ के पतझड़ तक वह सीमा समस्या को विघटित रूप में ही प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते रहे और अक्साइ चिन की बात को यह कह कर उड़ाते रहे कि यह एक ऐसा "इलाका है जहाँ घास की एक पत्ती भी नहीं उगती।"

पेकिंग ने अपने इस दावे को कतई छिपा कर नहीं रखा कि उनके दस्तों ने लद्दाख प्रदेश में जुलाई १९५१ से ही गश्त लगानी शुरू कर दी थी। फिर भी श्री नेहरू ने चाउ इन लाई के साथ मित्रतापूर्ण पत्र-व्यवहार में इस विषय को कभी उठाया तक नहीं। बाद में ससद के सामने उन्होंने स्पष्टरूप से स्वीकार किया "मैंने कभी इस बात की आवश्यकता नहीं समझी थी कि चीन की सरकार से सीमा के बारे में कोई विवाद करूँ क्योंकि शायद मूर्खतावश मैं यह समझता था कि ऐसी कोई बात है ही नहीं जिस पर विवाद किया जा सके।"

विरोधी दलों के निरन्तर दबाव के कारण श्री नेहरू ने उसी वर्ष नवम्बर में लोक सभा में यह आश्चर्यजनक वक्तव्य दिया 'लेकिन मैं ससद को यह बता सकता हूँ कि आज़ादी से लेकर आज तक हमारी प्रतिरक्षा सेनाएँ कभी इतनी अच्छी हालत में नहीं थी और न कभी उनके पीछे औद्योगिक उत्पादन की इतना जबरदस्त सहायक शक्ति थी जितनी आज है। मैं स्थिति को निरर्थक रूप से बढ़ा चढ़ा कर नहीं बता रहा हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हमारी सेना देश की रक्षा करने के लिए पूर्णतः योग्य है।"

क्या रक्षा मत्रालय ने श्री नेहरू की आँखो के सामने धुन्ध फैला दिया था? या यह एक तरकीब थी उत्तेजित विरोधी दलों को शान्त करने की?

दिसम्बर १९६१ में श्री नेहरू ने ससद को आश्वासन दिया कि पिछले दो वर्षों में परिस्थिति मोटे तौर पर हमारे अनुकूल हो गयी थी। "मनचाही सीमा तक तो नहीं फिर भी यह सत्य है कि जिन क्षेत्रों में उन्होंने अधिकार कर लिया है वहाँ, सैनिक तथा अन्य दृष्टिकोणों से, स्थिति बराबर हमारे

अनुकूल होती गयी है।" यहाँ संकेत है लद्दाख में अधिक भारतीय चौकियाँ बनने की ओर वास्तव में यह वक्तव्य छलनात्मक था।

बड़ी चतुराई से श्री नेहरू इस स्थिति से हट कर कि : 'युद्ध नहीं होना चाहिए' इस विश्वास पर पहुँच गये थे कि : 'युद्ध होना असम्भव है। उन्होंने उन कुरूप तथा तकलीफ़देह वास्तविकताओं की ओर से आँखें मूंद ली थीं जो उनके कल्पित स्वर्ग के दरवाजों को ज़ोर-ज़ोर से खटखटा रही थीं।

इस प्रकार अपने दर्शन तथा राजनयिक चातुर्य में श्री नेहरू के असीम विश्वास ने, मानवी अच्छाई के प्रति उनकी आस्था ने और चीनी नेताओं से उनकी मित्रता ने मिलकर इस देश मे, व्यापक रूप से, यह महान भ्रम फैला दिया था कि २००० वर्ष के सम्बन्धों पर आधारित मित्रता कभी खत्म नहीं होगी और चीन जैसा प्रिय तथा विश्वस्त मित्र कभी भारत पर आक्रमण नहींकरेगा।

इस भ्रम का नशा दुर्भाग्य से भारत के सैनिक नेताओं की नसों में भी भर गया था जिसके कारण पूरा देश तथा उसके रक्षक शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों दृष्टियों से, किसी भी आक्रमण के लिए सर्वथा अतत्पर थे।

उदाहरणार्थ, सितम्बर १६५६ में, लद्दाख के अक्साइ चिन प्रदेश में चीनी अतिक्रमण के बाद श्री नेहरू ने हमारे प्रशासन तथा सैनिक अधिकारियों को आदेश दिया था कि "संघर्ष से तब तक बचो जब तक हम मजबूरन उसमें फंस ही न जायें। मतलब यह है कि हमें बड़े सशस्त्र संघर्षो से नहीं, छोटे संघर्षों से भी बचना चाहिए। उसी हालत में हमारे सैनिकों को गोली चलानी चाहिए जब उन पर गोली चलायी गयी हो।"

साथ ही श्री नेहरू ने कहा : "मेरे ख्याल से चीनी इस (नेफ़ा) सीमान्त पर आक्रमणशील रुख अख्तियार नहीं करेंगे अर्थात् अब और आगे बढ़ने का प्रयत्न नहीं करेंगे।"

इसी प्रकार उनके अनुसार लद्दाख में भी बस सेंध भरने का खेल चल रहा था—दोनों पक्ष खाली स्थानों पर अपनी-अपनी चौकियाँ स्थापित करके लुका-छिपी का खेल खेल रहे थे।

८ नवम्बर, १६६२, को लोक सभा में चीनी आक्रमण पर प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए श्री नेहरू ने स्वीकार किया : "पिछले पाँच वर्षो में चीन हमारे सीमान्त पर जो अग्रधर्षण करता रहा है—जो एक बहुत बुरी बात थी और उनकी विस्तारवादी प्रवृत्तियों का परिचायक थी—उससे हमें तकलीफ़ें ज़रूर हुईं लेकिन हमारे लिए यह निष्कर्ष निकालना असम्भव था कि चीन कभी भी बड़े पैमाने पर आक्रमण करेगा।"

सरकारी मनोस्थिति थी कि कोई 'निर्णयात्मक युद्ध' नहीं होगा, हद से हद कुछ स्थितियों को लेकर सीमित संघर्ष होंगे हालांकि गुप्त सूचना विभाग यह

खबर दे चुका था कि नेफ़ा मोर्चे पर चीनी सैनिक बहुत बड़ी संख्या में एकत्र थे और सीमा के उस पार बहुत तेज सैनिक सरगर्मी चल रही थी।

इसलिए सन् १९५७ म शुरू होने वाले चीनी अतिक्रमणों से भी भारत सरकार की आँखें नही खुलीं। सन् १९५९ म दलाई लामा के भारत में शरण लेने के बाद चीन के साथ राजनयिक पत्र-व्यवहार म स्पष्ट उनकी उग्रतर आक्रमणशीलता भी भारत सरकार की शान्त, निश्चिन्त मुद्रा भंग नही कर सकी।

अक्तूबर १९६२ तक, जब निर्णयात्मक चाल चली जा चुकी थी, श्री नेहरू का ख्याल था कि चीनी वास्तविक युद्ध नही चाहते हैं। जनरल कौल ने अपनी पुस्तक 'अनकही कहानी' मे २ अक्तूबर को लिखा है: "उसी दिन जनरल थापर और जनरल सेन प्रधान मत्री से मिले। प्रधान मत्री ने कहा कि यह पहला अवसर था जब हम चीनियो के विरुद्ध अस्त्र इस्तेमाल करने जा रहे थे। हालाकि हमारे पर्याप्त कारण थे, उन्होंने कहा, लेकिन इस बात का गम्भीर परिणाम निकलना निश्चित था। नेहरू ने कहा कि किन्हीं अच्छे आधारों पर उनको यह विश्वास है कि चीनी हमारे विरुद्ध कोई भीषण सैनिक कारवाई नहीं करेंगे।"

उसी महीने मे जब चीनियो ने वास्तव मे जबरदस्त पैमाने पर भारत पर आक्रमण कर दिया तो २५ अक्तूबर को लोक सभा मे बोलते हुए श्री नेहरू ने इस आक्रमण को एक 'गहरा आघात' बताया और आश्चर्यजनक स्पष्टता से स्वीकार किया "हम आधुनिक ससार की असलियतो से दूर होते जा रहे थे और हमने अपने ही बनाये हुए एक कृत्रिम वातावरण म रहना शुरू कर दिया था।"

दो दिन बाद, मानो श्री नेहरू की इस आत्म स्वकृति की साक्षी देते हुए, पेकिंग के पत्र 'पीपुल्स डली' ने भारतीय प्रधान मत्री पर जहर उगला। चीनी सरकार के मुखपत्र ने लिखा

> "इस महत्त्वाकाक्षी नेहरू का उद्देश्य रहा है भारत के इतिहास मे एक अभूतपूर्व साम्राज्य की स्थापना करना। इस साम्राज्य के प्रभाव क्षेत्र मे मध्यपूर्व से ले कर दक्षिण पूर्वी एशिया तक के सब देशों को शामिल कर लेने की योजना बनायी गयी है। किसी जमाने म अग्रजी साम्राज्यवादियो ने एशिया मे जो औपनिवेशिक जाल बिछाया उससे भी कही बडा है यह साम्राज्य स्वप्न।"

वास्तव मे १९६१ के बाद केवल एक अधे आदमी के लिए ही यह असम्भव था कि वह देख सके कि भारत तिब्बत सीमा पर चीनी क्या करना चाहते हैं।

यह निकट दृष्टि पूरी तरह भारत सरकार की विदेश नीति और उसके एकमात्र निर्माता के कारण थी जो (आश्चर्य की बात है) अन्त तक यथार्थ के क्रूर थपेड़ों के बावजूद अपने रूमानी भ्रम को सीने से लगाये रहे थे।

दुर्भाग्य की बात यह थी कि शांतिपुरुष नेहरू जो अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व तथा सद्भावनाओं की नीति कार्यान्वित करने में पूरी तरह सफल हुए थे, पूर्णतः अयोग्य थे युद्ध समय के नेता की भूमिका अदा करने के लिए। उन्हें युद्ध से तीव्र अरुचि थी और उन्होंने अपने आप को विश्वास दिला दिया था कि चीनी आक्रमण का खतरा एक नकली खतरा है।

श्री नेहरू को उस नयी भूमिका से घृणा थी जो उन्हें विवश होकर अदा करनी पड़ी थी लेकिन उत्तरदायित्व की गहरी भावना और देश के लिए उनके नेतृत्व की अनिवार्यता के विचार से वह अपने पद पर डटे रहे थे।

५ दिसम्बर, १९६१ को लोक सभा में चीन सम्बन्धी बहस का उत्तर देते हुए उन्होंने यह आत्म-प्रदर्शक वक्तव्य दिया था : "कहीं भी युद्ध होने के विचार से मेरी आत्मा विद्रोह कर उठती है। मुझे जीवन भर यही शिक्षा मिली है और अब ७२ वर्ष की आयु में मैं उससे पीछा नहीं छुड़ा सकता।"

१९६२ के चीनी संकट से पहले के श्री नेहरू की यह तस्वीर अधूरी रहेगी और उनके प्रति अन्याय होगा यदि दूसरा रुख न दिखाया जाये। क्योंकि इस बात के भी प्रचुर प्रमाण हैं कि उन्हें संभाव्य चीनी संकट का तीव्र आभास था, कि युद्ध को छोड़कर उन्होंने भारत-तिब्बत सीमा पर रोकथाम और संरक्षण के लिए कई काम किये थे, कि वे बराबर रक्षा मंत्रालय तथा राज्य सरकारों को यह आदेश देते रहे थे कि सीमान्तों पर कड़ी निगरानी रखी जाये और सीमा के विवादपूर्ण स्थानों पर चौकियाँ स्थापित कर दी जायें ताकि चीन किसी दिन सम्पन्न-कार्य की स्थिति प्रस्तुत न कर सके।

वास्तव में सन् १९५४ से ही प्रधान मंत्री प्रतिरक्षा संगठन को यह समझाते रहे थे कि पूरे उत्तर पूर्वी सीमान्त पर शारीरिक रूप से नियन्त्रण रखना अनिवार्य है और यह आवश्यक है कि आगे तक चौकियाँ स्थापित कर दी जायें, उस सारे प्रदेश पर प्रशासकीय नियन्त्रण क़ायम कर दिया जाये ताकि स्थानीय जनता का भावनात्मक एकीकरण सम्भव हो सके।

इस बात की काफी सम्भावना है कि यदि रक्षा मंत्रालय और सैनिक हैडक्वार्टर १९५४ के बाद के श्री नेहरू के आदर्शों और इच्छाओं का पालन करते तो लद्दाख में वह न होता जो हुआ।

नेफा सीमा के बारे में विशेषतः श्री नेहरू सैनिक हैडक्वार्टर से बार-बार कहते रहे थे कि मैकमहॉन रेखा के किनारे-किनारे सब मार्के के स्थानों पर

चौकियाँ स्थापित कर दी जायें ताकि इस विवादपूर्ण सरहदी इलाके में भारत सरकार की उपस्थिति एक अकाट्य तथ्य बन जाये।

एक अवसर पर प्रधान मंत्री ने सैनिक अधिकारियों को इस बात के लिए डाँटा था कि वे ऐसे प्रदेश में टोह दल भेजने से झिझक रहे थे जो चीनियों के किसी भी दावे के बावजूद, अविवाद रूप से भारत का ही अंग था। श्री नेहरू इस बात को अत्यन्त असन्तोषजनक समझते थे कि हमें यह भी न मालूम हो कि किस सीमा तक चीन ने हमारी भूमि पर अतिक्रमण किया है।

लद्दाख क्षेत्र में एक गश्ती दस्ता भेजने को अपनी स्वीकृति देते हुए प्रधान मंत्री ने फिर भी, इस बात पर जोर दिया था कि हमारा दस्ता किसी भी हालत में चीनी दस्तों से सशस्त्र संघर्ष न करे।

श्री नेहरू का निश्चित मत था कि हमें उन इलाकों में टोह दस्ते भेजने से नहीं झिझकना चाहिए जो भारत का अंग हैं, भले ही चीनी उन पर दावा करते हों।

वह नेफ़ा में चीनी खतरे के प्रति काफ़ी सजग थे और चाहते थे कि उस दूरस्थ सरहदी इलाके पर भारतीय कब्ज़ा सुदृढ़ कर दिया जाये और उन्हें विश्वास था कि यह इलाका पूरी तरह सुरक्षित कर लिया गया है। २२ अगस्त, १९६२ को राज्य सभा में बोलते हुए उन्होंने कहा

> "१९४९-५० की स्थिति को देखते हुए हमारा ख्याल था कि नेफ़ा में खतरा है और तब से हमने नेफ़ा सरहद को सुरक्षित करने की हर कोशिश की। धीरे-धीरे हमने उस प्रदेश में अपनी चौकियाँ स्थापित कर ली हैं और इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नेफ़ा में प्रशासकीय तन्त्र फैल गया है। जिस एक सरहद को हमने काफ़ी सफलतापूर्वक सुरक्षित किया है, वह है नेफ़ा सीमान्त।"

श्री नेहरू की सबसे बड़ी भूल यह थी कि उन्हें अटूट विश्वास था वैयक्तिक राजनय तथा मानवी सम्बन्धों में और उन्होंने मानसिक रूप से युद्ध को नीति अस्त्र के रूप में रद्द कर दिया था। उनकी असफलता का मुख्य कारण था कि उन्हें अपनी राज्य मर्मज्ञ प्रतिभा और राजनयिक चातुर्य में अत्यधिक विश्वास था और वह समझते थे कि अपने व्यक्तित्व के आकर्षण मात्र से वह सारी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ सुलझा सकते हैं।

उन्हें अपनी इस नियति में अटूट विश्वास था कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में तथा उन्हें रूप देने के कार्य में उन्हें एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी है और अपनी पार्श्वभूमि तथा बौद्धिक योग्यता के कारण इस भूमिका के लिए वे अपने आप को सबसे योग्य व्यक्ति समझते थे।

स्वतन्त्रता मिलने के पहले से विदेश सम्बन्धी मामलों में उन्हें गहरी दिलचस्पी थी। उन्होंने कांग्रेस को विश्व चेतना प्रदान की थी। स्वतन्त्रता के बाद प्रधान मंत्री के अलावा वे विदेश मंत्री भी थे और इस भूमिका को अदा करने में उन्हें बहुत आनन्द मिलता था।

उन्होंने अपना सब कुछ इस विश्वास पर लगा दिया था कि उनकी विदेश नीति न केवल सही है, बल्कि ऐसी है जिसके असफल होने की कोई सम्भावना नहीं। अतः जब १९६२ में चीनियों ने भारत पर आक्रमण किया तो न केवल उन्होंने भारत तथा नेहरू की पीठ में छूरा भोंका बल्कि उस विदेश नीति की नींव उड़ा दी जिससे नेहरू ने अपने आप को एकरूप कर लिया था। यही वास्तव में वह आघात था जिससे श्री नेहरू कभी संभल नहीं सके।

१२

एक गत्यात्मक मंत्री

सन् १९५७ म रक्षा मत्रालय मे श्री वी० के० कृष्ण मेनन का घुसना हुवा के एक ताजे झोंके की तरह था जिसने उस मत्रालय म वर्षों से जमती हुई धूल को उड़ा दिया और जालो को नोच फेंका।

रक्षा मत्रालय पिछले ७-८ वर्षों से भारत सरकार की सौतेली सन्तान की तरह रहा था। और उसमे एक घातक ठहराव की स्थिति पैदा हो गयी थी। इन वर्षों में अयोग्य व्यक्तियों ने इस महत्वपूर्ण मत्रालय का कार्य भार सम्हाला था—इससे यह स्पष्ट पता चलता था कि भारत सरकार इस मत्रालय को कितना महत्व देती थी।

एक गांधीवादी शातिप्रिय, सहअस्तित्व के दर्शन मे विश्वास रखने वाले देश के लिए रक्षा मत्रालय और सेना दोनो अनावश्यक समझे जाने लगे थे। सरकार और ससद दोनो उसके खर्च अधिकृत करने से पीछे हटते थे। सेना के तत्कालीन अधिकारी निराशा और कटुता से भर गये थे और देश के युवको की सर्वोत्तम श्रेणी के लिए सैनिक सेवा मे कोई आकर्षण नही रह गया था जबकि आजादी से पहले इसे एक अत्यन्त उत्तम पेशा समझा जाता था।

कृष्ण मेनन के गत्यात्मक नेतृत्व के कारण प्रतिरक्षा सेवाओ मे नयी जान आ गयी। बहुत समय के बाद रक्षा मत्रालय पर फिर आकर्षण केन्द्रित हुआ। एक बहुत बडी झाड़ू से मेनन ने पूरे मत्रालय को साफ करके क्रियाशील बना दिया और वरिष्ठ सैनिक अधिकारियो तथा उनके स्टाफो के मन मे यह विश्वास पैदा कर दिया कि अब वे अनाथ नहीं हैं। बहुत देर बाद उन्हे एक ऐसा नेता मिला था जो उनके अधिकारो की सुरक्षा कर सकता था, उनके लिए लड़ सकता था। अत मेनन के मत्री बनने पर व अत्यन्त हर्षित हुए और उनके चारों तरफ जुट गये। वे मेनन के लिए कुछ भी करने को तैयार थे।

मेनन ने अधिकारी श्रेणी तथा सेना के तीनों अंगों के रैंकों के वेतन, भत्ते तथा रहने और काम करने की परिस्थितियों के बारे में जाँच की। उन्होंने उनका निवृत्ति-वेतन बढ़ा दिया, कटे हुए राशन भत्ते को फिर से दिलाया, अफ़सरों का वेतन (जो पुलिस अफसरों के वेतनों की तुलना में बहुत कम था) बढ़ाया और यह निश्चित कर दिया कि मेजर के बजाय लेफ्टिनेन्ट कर्नल के पद से निवृत्ति हुआ करेगी। उन्होंने उन्हें मकान दिलवाने की व्यवस्था करवायी और कल्याणकारी प्रोग्राम चालू करवाये। मृत्योपरान्त उपदान तथा परिवार को दी जाने वाली पेन्शन की भी वृद्धि कर दी गयी।

वास्तव में, मेनन का दावा है कि वेतन, कल्याण तथा रहने की परिस्थितियों के क्षेत्र में उन्होंने सेना को कुल मिला कर ७२ रियायतें दिलवायी थीं।

मेनन ने मुझे बताया कि १९५९ में उन्होंने यह प्रस्ताव रखा था कि सेना के अधिकारी वर्ग की संख्या दुगुनी कर दी जाये लेकिन जनरल थिमैया तथा जनरल कुमारमंगलम ने (जो उस समय एडजुटेंट जनरल थे) इस दलील पर उनके प्रस्ताव का विरोध किया था कि संकटपूर्ण स्थिति खत्म हो जाने के बाद उनकी समझ में नहीं आयेगा कि इतने अतिरिक्त अफ़सरों का क्या किया जाये। अर्थ मंत्री, मोरारजी देसाई ने भी इस प्रस्ताव का विरोध किया था।

मेनन ने यह भी कहा कि जनरल थिमैया स्वचालित अस्त्रों के उत्पादन के खिलाफ थे क्योंकि उनका कहना था कि सेना के पास अगले ४७ वर्षों के लिए पर्याप्त तोपें थीं।

मेनन ने इसके बाद देश में ही प्रतिरक्षा आवश्यकताओं के उत्पादन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया क्योंकि इससे देश आत्म-निर्भर होगा और प्रतिरक्षा के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में विदेशों पर उसका निर्भर होना कम हो जायेगा।

जो ऑर्डनैन्स फैक्ट्रियाँ उस समय मौजूद थीं उन्हें पूरी क्षमता तक उत्पादन कार्य में लगा देने का आदेश दिया गया और कुछ का संवर्धन भी किया गया। यह फैक्ट्रियाँ, इसके बाद, गोला-बारूद, भारी मॉर्टर, जल सेना की तोपें तथा बैरैल, बन्दूकों के लिए 'रिक्वायल' प्रणालियाँ, भारी तथा मध्यम कैलिबर की तोपों के लिए माउंटिंग, कैरेज तथा बक्सर, साधारण अस्त्र, कई प्रकार के बम, माइनें, उच्च विस्फोटक, जल बम, पैराशूट तथा पर्वतीय युद्ध के लिए आवश्यक साधन आदि उत्पादित करने लगीं।

मेनन की ही पहल के फलस्वरूप बंगलौर और कानपुर में एयरक्राफ्ट फैक्ट्रियाँ खोल दी गयीं, जबलपुर में ट्रकों तथा भारी वाहनों का निर्माण शुरू हुआ और दक्षिण के अवाडी नामक स्थान में टैंक बनाने की एक फैक्ट्री शुरू की गयी। भंडारा में विस्फोटकों का, बंगलौर में नियंत्रित मिसाइलों का, बम्बई तथा -

कलकत्ता में मैरीन इंजनों का, मसूरी में स्वचालित शस्त्रों, मिश्रधातु इस्पात और निर्धारित सामग्रियों का उत्पादन होने लगा।

उन्होंने अब-स्वचालित राइफलों, ७६२ मिलीमीटर *गोला-बारूद*, १२० मिलीमीटर भारी मॉर्टरों तथा उनके गोलों के उत्पादन की एक योजना भी बनायी। यह सब योजनाएं सन् '६२ के अन्त तक या '६२ के प्रारम्भ से क्रियात्मक रूप लेने वाली थीं—चीनी आक्रमण के समय या उसके कुछ बाद।

बहुत समय से विभिन्न सैनिक डिपो तथा वाडों में शस्त्रों तथा साधनों के भण्डार बेकार पड़े हुए थे। मेनन ने यह आदेश दिया कि इनमें से अधिक-से-अधिक को वहाँ से हटा कर ठीक किया जाय ताकि वे फिर काम में आ सकें। हजारों ऐसे वाहनों को जिन्हें रद्दी कह कर छोड़ दिया गया था, पुनरावृत्ति की गयी और उन्हें काम में लाया गया। जो मरम्मतशुदा डिपो अब तक थे उन्हें क्रियाशील बनाया गया और नई और डिपो स्थापित किए गए।*

मेनन ने अपने मंत्रालय तथा सेना के तीनों अंगों के बीच और अलग-अलग रूप से हर अंग के अन्दर अधिक समन्वय स्थापित किया। शोध तथा विकास समिति ने वैज्ञानिक तथा तकनीकी कौशल को आकर्षित और क्रियाशील करने का काम शुरू किया और काफी वैज्ञानिक सेना के लिए काम करने के लिए निमंत्रित किए गये। १९५८ में सारे शोध प्रतिष्ठानों को मिला कर एक नये प्रतिरक्षा शोध तथा विकास संस्थान की स्थापना की गयी।

युद्धकालीन मेंटेनेन्स डिपो पूरे रूप से काम करने वाली फैक्ट्रियों में परिवर्तित कर दिये गये जिनमें शस्त्रों तथा विमानों से लेकर प्रेशर कूकर तक का उत्पादन शुरू हो गया।

सन् १९६५ में मेरे साथ एक मुलाकात में, जब आलोचना का उत्तर देते हुए मेनन ने बताया कि उन चार वर्षों में ज्यादा से ज्यादा छः कॉफी परकोलेटर प्रतिरक्षा फैक्ट्रियों में बनाये गये थे। उन्होंने कहा "बाल काटने की मशीनें इसलिए बनायी गयीं कि वे सैनिकों को बाल काटने के लिए आवश्यक थीं और प्रेशर कूकर इसलिए बनाये गये कि उत्तरी सीमान्त पर स्थित सैनिकों को पेट भरने के लिए उनकी आवश्यकता थी।"

रक्षा मंत्रालय में अपनी पहली चार वर्ष की अवधि में मेनन ने कैडेट कोर की संख्या दुगनी करके २, ६३, ४६६ कर दी। इसके अतिरिक्त उन्होंने ऑक्जिलियरी कैडेट कोर की स्थापना की, युवकों को सहभाव तथा अनुशासन की शिक्षा देने के लिए तथा उनमें देशप्रेम का भाव जाग्रत करने के लिए।

इंगलैण्ड के इम्पीरियल स्टाफ कॉलेज के नमूने पर दिल्ली में एक नेशनल डिफेन्स कॉलेज खोला गया ताकि सेना के तीनों अंगों के प्रवर अधिकारियों को

*टी जे एस जॉर्ज की पुस्तक 'कृष्ण मेनन' से।

विशेष प्रशिक्षण दिया जा सके। इस कॉलिज में युद्ध के उच्चतर निर्देश तथा नीति के साथ युद्ध से सम्बन्धित सैनिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक तत्त्वों की भी शिक्षा दी जाती थी। सैनिक इंजीनियरिंग तथा सैनिक चिकित्साशास्त्र के कॉलिज पूना में खोल दिये गये।

मेनन ने मुझे बताया कि ६१-६२ तक देश का सैनिक बजट ३०० करोड़ रुपये हो गया था। शुरू में प्रतिरक्षा उत्पादन की निर्गत १४ करोड़ रुपये की थी लेकिन सन् ६२ में मेनन के रक्षा मन्त्री के पद से त्याग पत्र देने के समय तक यह १०० करोड़ रुपये तक की हो गयी थी।

भारत को प्रतिरक्षा क्षेत्र में आत्म-निर्भर बनाने का जो आधार मेनन ने स्थापित किया था उसका लाभ १९६५ के भारत-पाक युद्ध में पता लगा जब स्वदेश में ही बने प्रतिरक्षा साधनों से बहुत फ़ायदा हुआ।

लेकिन इस सब के बावजूद यह बात अटल रूप से अपनी जगह पर है कि जब चीन ने हमारे उत्तरी सीमान्त पर आक्रमण किया तो हमारी सेना उसका मुकाबिला करने के लिए कतई तैयार नहीं। उस संकट कालीन अवसर पर तथा उसके पाँच वर्ष पहले से रक्षा मन्त्री होने के कारण मेनन को चाहिए कि पराजय और दुर्दशा के लिए देश को जवाब दें। और बहाना यह नहीं हो सकता कि भारत की ओर अपनी आक्रमणशील नीयत का चीन ने पर्याप्त परिचय नहीं दिया था। चीन की आक्रमणशील कार्रवायी १९५९ के बाद ही बढ़नी शुरू हो गयी थी—अक्तूबर ६२ में तो सिर्फ़ उसका विस्फोट हुआ था।

सत्य यह है कि रक्षा मन्त्री की हैसियत से मेनन ने ऐसी नितियाँ अपनायी थीं जो प्रधान मन्त्री द्वारा निर्धारित भारत सरकार के सर्वमान्य दृष्टिकोण का पूर्ण रूप से पालन करती थीं। यह दृष्टिकोण था कि भारत को बाहर से प्रतिरक्षा सम्बन्धी कोई ख़तरा नहीं है कि चीन कभी भारत पर आक्रमण नहीं करेगा और पाकिस्तान आक्रमण करने का साहस नहीं करेगा। यदि पाकिस्तान ने ऐसा किया भी तो हमारी सेना उसके दाँत खट्टे करने के लिए पूरी तरह तैयार थी।

इस दृष्टिकोण का पालन करने में मेनन को कोई आपत्ति नहीं थी : वे स्वयं कट्टर शांतिवादी थे। शाब्दिक आक्रमणशीलता तथा ज़हरीली ज़बान के बावजूद मेनन युद्ध नेता की भूमिका अदा करने के उतने ही अयोग्य थे जितने नेहरू।

उत्साह तथा कौशल से प्रतिक्षा क्षेत्र में देश को आत्म-निर्भर बनाने के लिए निर्माणशील तथा दीर्घ-अवधि की योजनाएँ कार्यान्वित करना एक बात है और रक्षा मन्त्री की हैसियत से युद्धकाल में देश का नेतृत्व करना बिल्कुल दूसरी बात। मेनन मूलतः इस काम के योग्य थे ही नहीं। उनका बौद्धिक

गठन उनका जीवन-दर्शन और पृष्ठभूमि, उनका सारा व्यक्तित्व इस भूमिका को अदा करने के विरुद्ध था और रातोरात उन्हें बदला नहीं जा सकता था। यदि जहरीले शब्दों और अम्ल में डूबे कलमों से युद्ध लड़े जाते तो मनन दल, जिनसे मनन नाराज थे, नष्ट हो जाते। संयुक्त राष्ट्र के एक प्रत्यायुक्त ने मेनन को घमंडी शांति दूत कहा था।

कई वर्षों से संयुक्त राष्ट्र तथा अन्य स्थानों में मेनन पूरे उत्साह से निरस्त्रीकरण की पैरवी करते रहे थे और युद्ध को पूरे जोर से धिक्कारते रहे थे। नेहरू की तरह उनका भी विश्वास था कि इस अणु युग में युद्ध एक दकियानूसी चीज है और मानवता की आम हत्या का साधन है।

संयुक्त राष्ट्र संघ में निरस्त्रीकरण पर एक बहस में मेनन ने कहा था। युद्ध तब से चले आ रहे हैं जब से मानवता है • लेकिन आज हम ऐसे समय में रह रहे हैं जब सभ्य मानवता युद्ध को अनिवार्य नहीं समझती है या तो मनुष्य युद्ध को खत्म कर देगा या युद्ध मनुष्य को।"

स्वयं अपना यह दर्शन होने हुए मेनन ने देश की तुरन्त प्रतिरक्षा आवश्यकताओं की ओर ध्यान नहीं दिया और प्रतिरक्षा उत्पादन की योजनाओं पर अपनी सारी शक्ति केन्द्रित कर दी—यह योजनाएँ कुछ वर्षों के बाद ही देश के लिए लाभदायक हो सकती थी।

अत व सेना के सामने त्वरित रूप से उपस्थित कार्य की आवश्यकताओं से बेखबर थे। यह कार्य था हिमालय की दुर्गम बर्फीली चोटियों पर डट कर देश के सीमान्त की रक्षा करना। ऐसा अनुभव भारतीय सेना को पहले कभी नहीं हुआ था और इसके लिए भिन्न तथा विशेष प्रकार के प्रशिक्षण तथा साधनों की आवश्यकता थी। वास्तव म इसका कुछ स्वाद सेना को मिल चुका था। सन् ४८ के कश्मीर युद्ध म जोजीला सेक्टर में पाकिस्तान के सैनिकों से लड़ने म।

सन् ४७ म देशविभाजन के समय भारत के पास काफी सैनिक साधन थे। सन् ६२ तक उनमें से अधिकांश बेकार हो गये थे। बारबार सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया था, लेकिन इस दिशा में कोई क़दम नहीं उठाया गया था। सन ६२ तक गोला बारूद का स्टॉक बहुत कम रह गया था और वाहनों की हालत बहुत खराब थी।

सन् १९६२ में केवल रायफलों की ही आवश्यक संख्या में ६०,००० की कमी थी। पश्चिमी कमाण्ड के दो पूरे टैंक रेजिमेंट निष्क्रिय हो चुके थे। राडार द्वितीय महायुद्ध के समय के थे और दकियानूसी हो चुके थे २५ पाउंड की तोपों के लिए मुश्किल से तीन महीने के लिए पर्याप्त गोले थे। इन्जिनियरिंग उपकरण इतने पुराने ढंग के थे कि लगभग बेकार थे और सिग्नल के उपकरणों का आधुनिकीकरण करना आवश्यक था।

गोग्रा में पुर्त्तगालियों के साथ युद्ध करने वाले १७ वें डिवीजन के पास जूतों की सख्त कमी थी। सौभाग्य की बात यह थी कि गोग्रा युद्ध केवल एक हफ्ते में समाप्त हो गया था। देश में बने होने के कारण सेना को दिये गये उपकरण न उतने अच्छे थे और न पर्याप्त। उदाहरणार्थ, नेफ़ा में एक दस्ते की ग्रावश्यकताओं को पूरा करने के लिए दूसरे दस्ते को उन चीज़ों से वंचित रखा जाता था।

कौल ने अपनी पुस्तक 'अनकही कहानी' में लिखा है—

मेरे ख्याल से मेनन काफ़ी सीमा तक श्री नेहरू के इस दृष्टिकोण को अपनाने के उत्तरदायी थे जिससे वह सेना के आधुनिक करण के लिए पर्याप्त पूंजी, अधिकृत करने तथा कई कमियों को पूरा करने के लिए हमारे प्रस्तावों तथा विनतियों को प्रतिकूल भाव से देखते थे।"

अतः मेनन इस बात के अपराधी हैं कि उन्होंने अपना यह कर्त्तव्य पूरा नहीं किया कि भारतीय सेना को हर तरह से इस योग्य बनायें कि ऊँचे तथा पहाड़ी भूप्रदेश पर वह ऐसे शत्रु का सामना सफलतापूर्वक कर सके जो इस प्रकार के युद्ध में दक्ष था और जो संख्या तथा साधनों में हमसे उत्तम था। कम से कम तीन वर्ष पहले से मेनन को मालूम था (या मालूम होना चाहिए था) कि चीन आक्रमण करेगा। देश की प्रतिरक्षा से खेल करने के लिए प्रतिरक्षा मन्त्री को क्षमा नहीं किया जा सकता।

देश में उस समय दो विचारधाराएँ थीं और मेनन उस विचारधारा के नेता थे जो पाकिस्तान की ओर से खतरे की सम्भावना को बढ़ा-चढ़ा कर बताती थी और चीन से खतरे की सम्भावना को घटा कर। इस बात के अलावा कि मेनन आदर्शवादी रूप से साम्यवादी चीन के पक्ष में थे, उन्होंने पाकिस्तान को अपना एक मात्र शत्रु निश्चित कर लिया था—भावनात्मक रूप से विस्फोटक कश्मीर प्रश्न पर वह वर्षों से अत्यन्त कुशल सेनानी की तरह पाकिस्तान की धज्जियाँ अपने चतुर तर्कों से उड़ाते रहे थे। वास्तव में उनकी इसी ख्याति से उन्हें आम चुनावों में भी बहुत सहायता मिली थी।

प्रतिरक्षा मन्त्री की हैसियत से मेनन से यह आशा की जाती थी कि वे हमारे उत्तरी सीमान्त पर तेज़ी से बिगड़ती हुई परिस्थिति के बारे में ज्यादा जानकर और सचेत होंगे। सैनिक हैडक्वार्टर तथा उनके मन्त्रालय में आनेवाली गुप्त सूचना विभाग की अनेक रिपोर्टों से पर्याप्त चेतावनी प्राप्त हो गयी थी और तिब्बत सीमा पर संगठित चीनी शक्ति के आकार का भी अन्दाज हो गया था। लेकिन इन रिपोर्टों का सरकार की पूर्व निश्चित धारणा से कोई सम्बन्ध नहीं था और इसलिए मेनन ने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया था।

वास्तव में कई लोग इसे गैर जिम्मेदारी की बात न सही तो परिस्थिति को समझने की भूल अवश्य समझते हैं कि जब नेफ़ा सीमा पर संकट के बादल सघनतर हो रहे थे तो रक्षा मन्त्री अपना स्थान छोड़कर किसी और मिशन के सिलसिले में संयुक्त राष्ट्र चले गये थे।

उनके जीवनीकार टी० जे० एस० जॉर्ज ने कहा है कि कृष्ण मेनन, विशेषत १९५९ के बाद, पूरी तरह इस पक्ष में थे कि सीमान्त के चीनी संकट के खिलाफ पूरी शक्ति और क्रियाशीलता से काम लिया जाये और उन्होंने इस बात के लिए बड़ा प्रयत्न किया था कि तिब्बत सीमापर अपने प्रतिरक्षा साधना को संगठित करने के लिए सरकार पर्याप्त पूंजी अधिकृत कर दे लेकिन मन्त्रिमंडल विशेषत अर्थ मन्त्री ने उनका हर प्रयत्न विफल किया था और जोर इस बात पर दिया था कि चीन के खिलाफ सैनिक नहीं राजनयिक कारवाई की जाय। जॉर्ज ने लिखा है

"सन् ५७ में अक्साइ चिन मामले के बाद कृष्ण मेनन ने मन्त्रि मंडल से स्पष्ट रूप से यह कहा था कि सीमान्त प्रतिरक्षा का तेजी से संगठित करना अनिवार्य है। लेकिन मन्त्रि मंडल का विचार था कि इस संकट को राजनयिक रूप से खत्म करना चाहिए। "मन्त्रि मंडल की यह प्रवृत्ति होने के कारण मेनन को हर बात में बाधाओं और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था कार्यान्वित होने के स्तर तक पहुँचते-पहुँचते उनकी सारी योजनाएँ अटक जाती थीं।

"उत्तरी सीमान्त पर हमारे तैयार रहने की आवश्यकता को पूरी तरह अक्तूबर १९५९ में आँका गया था लेकिन इस पर भी अर्थ मन्त्रालय का आग्रह था कि रक्षा मन्त्रालय द्वारा प्रस्तावित योजनाओं और प्रोग्रामों को धीरे-धीरे एक-एक अंग करके कार्यान्वित किया जाय। रक्षा मन्त्री के अनुसार इस कार्य को पूरा करने के लिए ८,६८० लाख रुपये की आवश्यकता थी, जिसमें १३७० लाख रुपये की विदेशी मुद्रा भी थी।

'अर्थ मन्त्रालय ने विदेशी मुद्रा अधिकृत करने में इनकार कर दिया और कहा कि रक्षा मन्त्रालय को समय-समय पर अधिकृत की जाने वाली विदेशी मुद्रा से ही काम चलाना चाहिए। इसके फल स्वरूप १९६२ तक केवल ४,१०० लाख रुपये खर्च किये जा सके और १,३७० लाख रुपये की विदेशी मुद्रा के बजाय ४५ लाख रुपये की विदेशी मुद्रा ही प्राप्त हुयी।"

इस विषय पर बात करते हुए मेनन ने झुंझला कर अर्थ मन्त्रालय द्वारा स्थापित समय खराब करने वाली कार्यविधियों की ओर संकेत किया जिनकी वजह से आवश्यक पूंजी बहुत देर से अधिकृत हो पाती थी। उन्होंने यह भी

कहा कि अर्थ मन्त्री मोरारजी देसाई तथा उनके बीच व्यक्तिगत वैमनस्य था जिसके कारण अक्सर झगड़ा हो जाता था।

लेकिन श्री देसाई ने मुझ से बात करते हुए इस बात से इनकार किया कि उनके तथा मेनन के बीच कभी कोई जाती बहस हुयी। उन्होंने कहा कि यह बहसें मेनन तथा रक्षा मन्त्रालय में अर्थ मन्त्रालय का प्रतिनिधित्व करने वाले तथा रक्षा मन्त्रालय के किसी नये खर्चे को अधिकृत करने वाले वित्त सलाहकार के बीच ही होती थीं।

यह बात कि मेनन तथा मोरारजी को एक दूसरे से क़तई प्रेम नहीं था दिल्ली में एक खुला राज थी। मेनन ने कहा कि मोरारजी के अलावा पंडित पंत भी मन्त्रिमंडल की बैठकों में हमेशा उनका विरोध करते थे। मेनन के अनुसार पंत उन्हें साम्यवादी समझते थे और जानबूझ कर मेनन की हर बात को काटते थे।

रक्षा मन्त्रालय तथा अर्थ मन्त्रालय के बीच इन झगड़ों पर बात करते हुए इस बात की ओर भी ध्यान देना होगा कि कम से कम मनोवैज्ञानिक रूप से, मेनन लोगों के साथ बहुत बुरा व्यवहार करते थे।

फिर भी कई तटस्थ दर्शन साक्षियों ने कहा है कि अधिकतर झगड़े और कठिनाइयाँ इस कारण पैदा होती थी कि वितरण के लिए प्राप्य विदेशी मुद्रा को देखते हुए रक्षा मन्त्री की मांगें बहुत ऊँची होती थीं। मूल्यवान विदेशी मुद्रा के संरक्षक की हैसियत से अर्थ मन्त्री का कर्त्तव्य था कि किसी भी माँग को पूरी तरह जाँचें और इसलिए वह दूसरे को कृपण तथा कल्पना शून्य लग सकते थे। और मेनन के अपने स्वभाव के कारण परिस्थिति और भी खराब हो जाती थी।

'हिन्दुस्तान स्टैन्डर्ड' में 'एक मिलीटरी ऑबसर्वर'* ने कौल की पुस्तक 'अनकही कहानी' की आलोचना करते हुए लिखा है कि यह झगड़े क्यों और कैसे पैदा होते थे। "अपने कमरे में होने वाली मीटिंगों में, जिसमें तीनों सैनिक अंगों के सेनापति सेना केपी० एस० ओ० तथा प्रशासकीय अधिकारी उपस्थित रहते थे, मेनन अर्थ मन्त्री और उनके मन्त्रालय के बारे में इतनी कटु टिप्पणियाँ करते थे कि स्पष्ट था कि वे दोनों में से किसी की परवाह नहीं करते। वास्तव में कई महत्त्वपूर्ण मीटिंगें बीच में ही खत्म हो जाती थीं इसलिए कि रक्षा मन्त्री तथा वित्त सलाहकार के बीच बहुत गर्म बहस छिड़ जाती थी और अन्त में वित्त सलाहकार कह देते थे कि उस विशेष प्रस्ताव के बारे में (जिस पर सारी बहस थी) उन्हें अपने मन्त्री के आदेश लेने पड़ेंगे।"

'मिलीटरी ऑबसर्वर' ने आगे कहा है "वित्त सलाहकार कभी भी बीच में रोड़ा डालने का प्रयत्न नहीं करते थे—कुल झगड़ा इस कारण होता था कि

* विश्वास किया जाता है कि जनरल एल. पी. सेन इस नाम से लिखते थे।

जिस पूंजी की मांग की जाती थी वह बजट में सेना के नाम अधिकृत विदेशी मुद्रा की मात्रा से कहीं ज्यादा होती थी।"

मेनन के जीवनीकार ने एक और बाधा की ओर संकेत किया है और वह यह कि "भण्डार तथा निपटान का महानिदेशालय, जिस पर सेना का कपड़े देने का उत्तरदायित्व है, माल को समय से पूरा नहीं कर पाता था। इसका कारण था कि वह प्रतिबद्ध था सरकार की इस नीति से कि लघुउद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाय। इसलिए इस निदेशालय के लिए अनिवार्य था कि छोटे यूनिटों से सामान मगावे और इससे अनावश्यक देरी हो जाती थी।"

एक तीसरा उदाहरण—प्रतिरक्षा शोध विभाग ने १९५९ में ही स्वचालित राइफिल का प्रतिरूप तैयार कर लिया था लेकिन वह सारी योजना सैनिक हेडक्वाटर में पहुंच कर अटक गयी थी और मार्च १९६२ तक वह प्रतिरूप पास नहीं हो सका था।

इसी के समर्थन में यह बताया गया कि सन् '६२ में श्री नेहरू ने ससद में यह गवाही दी थी कि रक्षा मन्त्री १९५८-५९ से इस बात पर जोर देते रहे थे कि आधुनिकतम अस्त्रों का कई सूत्रों से, यहाँ तक कि पश्चिमी देशों से भी फौरन खरीदना अत्यन्त आवश्यक है। लेकिन कई कठिनाइयाँ पैदा हो गयीं और दृष्टिकोणों में मतभेद पैदा हो गया।"

वास्तव में जॉर्ज तो यह तक कहते हैं कि आजादी के प्रारम्भिक वर्षों में ही मेनन का प्रधान मन्त्री की चीन सम्बन्धी नीति से मतभेद था। इस बात को स्पष्ट करते हुए जॉर्ज ने लिखा है "चीन में स्थित भारतीय राजदूत (सरदार पनिक्कर) ने श्री नेहरू को आश्वासन दिया था कि चीन तथा भारत के बीच संघर्ष की कोई सम्भावना नहीं है। इस आधार पर भारत ने अपनी चीन नीति बनायी थी। मेनन ने उस समय भारतीय राजदूत के इस आश्वासन पर सन्देह प्रकट किया था लेकिन अपनी बात का समर्थन करने के लिए उनके पास प्रमाण नहीं था। अतः मेनन ने सरकार की नीति से अपने को एक रूप कर लिया और भारत तथा चीन के बीच सच्ची मित्रता स्थापित करने के लिए हर प्रयत्न किया।

लेकिन लोंगजू चिन की घटना के बाद मेनन का प्रारम्भिक सन्देह फिर जाग्रत हुआ हालांकि शेष मन्त्रिमण्डल को अपने अनुकूल बनाना फिर भी मुश्किल था। फिर भी स्वभावगत, आदर्शवादी तथा आर्थिक बाधाओं को किसी तरह फलांगते हुए मेनन ने मार्ग निर्माण, पर्वतीय युद्ध प्रशिक्षण तथा अस्त्र उत्पादन का एक त्वरित प्रोग्राम शुरू किया। भारत के इतिहास में पहली बार दुर्गम हिमालय पर्वत पर अपनी प्रतिरक्षा को सगठित करने का प्रयत्न किया जा रहा था। लेकिन शुरुआत देर से हुयी थी। मेनन का प्रोग्राम अभी तेजी से चलने का प्रयत्न कर ही रहा था कि चीनियों ने बड़े पैमाने पर आक्रमण कर दिया।"

सेनापतियों के लिए एक दुस्स्वप्न

रक्षा मंत्री बनने के बाद कृष्ण मेनन ने यह तय कर लिया था कि देश की प्रतिरक्षा के बारे में उन्हें सब कुछ मालूम है—यही नहीं, वह यह भी समझते थे कि सेना के तीनों अंगों के प्रमुखों को वह कुछ सिखा भी सकते हैं। इससे भी बुरी बात यह थी कि उन्होंने रक्षा मंत्रालय में राजनीति चलानी शुरू कर दी थी जिसके कारण सैनिक हेडक्वार्टर में गुट बन गये थे।

उन्होंने अवर अधिकारियों को अपने से बड़े अफ़सरों के खिलाफ खड़े होने में प्रोत्साहित किया था और उन्हें बढ़ावा दिया था कि अवर अधिकारियों के सिर के ऊपर, सीधे उनसे सम्पर्क रखें। वह सेना के तीनों अंगों के प्रमुखों को झाड़ देते थे और उपेक्षापूर्वक उनकी प्रवीण राय टाल देते थे। इस प्रकार उन्होंने वरिष्ठ सैनिक अधिकारियों के आत्म-सम्मान को चोट पहुँचायी थी और सेना की अफ़सर श्रेणी में आवश्यक अनुशासन को पूरी तरह बिगाड़ दिया था।

कलकत्ते के 'हिन्दुस्तान स्टैन्डर्ड' नामक पत्र में 'एक मिलिटरी ऑबज़र्वर' ने लिखा है "अधिकारियों को पीछे छोड़कर, मेनन सीधे स्टॉफ़ अफ़सरों को बुला भेजते थे या उनसे टेलीफ़ोन पर बात करते थे। उनकी इस आदत से बात और भी बिगड़ गयी थी। उनके इस रवैये को न स्टाफ़ अफ़सर पसन्द करते थे, न तत्कालीन सेनापति जनरल थिमैया। लेकिन सतही तौर पर शान्ति रखने के लिए आपस में, यह तय कर लिया गया था कि स्टाफ़ अफ़सर मंत्री को मांगी गयी सूचना तो अवश्य दे दें लेकिन साथ ही अपने-अपने प्रमुखों को संक्षिप्त रूप में बता दें कि क्या सूचना दी गयी थी।"

उक्त लेख में यह शिकायत भी की गयी थी कि सेना के तीनों अंगों के प्रमुखों को मेनन केवल "गौरवपूर्ण कार्यकर्त्ता समझते थे। इस प्रकार उन्होंने उनके प्रभुत्व तथा प्रभाव को खतम कर दिया था और सैनिक प्रमुखों को इस

बात पर मजबूर कर दिया था कि वे उनके निश्चयों को स्वीकार करें भले ही वे निश्चय सही हों या गलत।"

'मिलिटरी ऑब्ज़र्वर' ने यह भी बताया कि मेनन हमेशा विभिन्न विषयों पर वाद-विवाद करने के लिए मीटिंगें किया करते थे लेकिन या तो उन विषयों पर कभी बहस होती ही नहीं थी या यह बहसें अधूरी रह जाती थीं। "इस बात से बचने के लिए कि उन्हें कोई निर्णयात्मक निश्चय न लेना पड़े, मेनन या तो किसी अफ़सर विशेष पर या सामान्यतः सेना के किसी अंग पर कोई न कोई कटु टिप्पणी कर देते थे। कभी-कभी उन्हें किसी प्रस्तुत विषय में कोई दिलचस्पी नहीं होती थी और ऐसी हालत में वे किसी असम्बन्धित विषय पर बात करके सारा समय खत्म कर देते थे और यह बहाना करके मीटिंग खत्म कर देते थे कि उन्हें किसी महत्वपूर्ण काम से जाना है। स्वाभाविक था कि ऐसी हालत में सेना प्रमुख तथा उनके पी० एस० ओ० क्रुद्ध तथा निराश हो जाते। प्रस्तुत विषय पर खुलासा तैयार करने तथा उसे समझाने में उनका काफ़ी मूल्यवान समय नष्ट हो जाता था।"

मेनन ने सैनिक हेडक्वार्टर में अपना विश्वस्त गुट बनाने का भी प्रयत्न किया था और इसके लिए ऐसे लोग इकट्ठे कर लिये थे जो या तो उनके पिट्ठू थे या उनकी हर बात को मानने के लिए तैयार थे। अपनी इसी नीति के अन्तर्गत, सेना प्रमुख तथा उनके पी० एस० ओ० के विरोध के बावजूद, वे कौल को सैनिक हेडक्वार्टर में ले आये थे। इस विषय पर 'मिलिटरी ऑब्ज़र्वर' ने लिखा है :

> "इसके बाद प्रश्न उठा कि क्वार्टर मास्टर जनरल के पद पर किसको नियुक्त किया जाये। कौल की नियुक्ति सैनिक चुनाव मंडल के द्वारा नहीं हुई थी। सैनिक कमान्डरों आदि ने जनरल थिमैया को यह सलाह दी थी कि वे इस पद के लिए कौल का नाम प्रस्तावित न करें। कौल के इस पद पर नियुक्त होने में, सबसे बड़ा खतरा यह था कि क्वार्टर मास्टर जनरल होते ही वे सैनिक चुनाव मंडल के सदस्य बन जायेंगे और इससे सेना के अधिकारी वर्ग की वफ़ादारी और उनके अनुशासन पर और भी बुरा असर पड़ेगा। लेकिन इस पद के लिए मेनन कौल के अलावा किसी और अफ़सर के बारे में सोचने को भी तैयार नहीं थे। इसलिए काफ़ी गम्भीर झगड़े के बाद, थिमैया को इस बात पर विवश होना पड़ा था कि कौल को क्वार्टर मास्टर जनरल के रूप में स्वीकार करें। अपने मूलतः सज्जन स्वभाव के कारण, कौल के पूछने पर, थिमैया ने इस बात से इनकार किया था कि यह बात उनके त्याग-पत्र देने का कारण थी। मेनन तथा

थिमैया के बीच के काफी समय से इकट्ठे होते हुए तनाव का यह अन्तिम विस्फोट था।"

मेनन तथा भारत के सर्वोत्तम सेनानी थिमैया के बीच का मतभेद एक सर्वविदित कहानी बन गया था और उसकी चरम अभिव्यक्ति थी थिमैया का त्याग पत्र देना। बाद में प्रधान मंत्री ने थिमैया को इस बात पर मना लिया था कि वे अपना त्याग-पत्र वापस ले लें। मेनन दूसरे सैनिक अंगो के प्रमुखों के साथ भी इतनी ही बुरी तरह पेश आते थे।

जनरल थिमैया के त्याग-पत्र के विषय पर बात करते हुए मेनन ने कहा कि नयी दिल्ली में स्थित पोलैण्ड के दूतावास की एक पार्टी मे स्वयं थिमैया या उनके कुछ मित्रो ने (थिमैया के त्याग-पत्र वापस ले लेने के बाद) यह सारी बात चुपके से 'स्टेट्समैन' के सम्वाददाता को बता दी थी। मेनन का यह भी कहना है कि अशोक मेहता ने थिमैया का त्याग-पत्र लिखा था।

कौल की नियुक्ति की तरह अन्य विवादपूर्ण नियुक्तियों तथा पदोन्नतियों की जिम्मेवारी भी मेनन ने स्वीकार नहीं की। मेनन के आग्रहपूर्वक कहा यह सारी नियुक्तियाँ सेना प्रमुख द्वारा स्वीकृत थीं हालाकि यह बात किसी से छिपी नहीं है कि नियुक्तियो के तथा अन्य मामलो मे मेनन ने तीनो सेना प्रमुखों को इस बात पर विवश कर दिया था कि वे उनकी बात मानें।

१९६१ के एक उत्पादन सम्मेलन मे मेनन ने कहा था "७५ फ़ी सदी कठिनाइयाँ तीनो सेना प्रमुखों के कारण पैदा होती हैं। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि वे निश्चय नही लेते, मैं यह कह रहा हूँ कि उनके पास निश्चय लेने की मानसिक क्षमता है ही नहीं।"

मेनन भले ही अपनी इस वाक् पटुता पर खुश हुए हों लेकिन खुली सभा मे प्राप्त हुए इस अकारण अपमान के शिकार उनकी इस उक्ति को मनोरंजक नहीं समझते थे।

इसके अलावा मेनन की यह आदत थी कि 'परामर्श' के लिए वे किसी न किसी सेना प्रमुख को ऊटपटांग समय पर, यहाँ तक कि आधी रात को भी बुला भेजते थे और उसके बाद उनको घंटों इन्तजार करवाते थे। अन्त मे जब मेनन, काफ़ी देर बाद प्रगट भी होते थे तो या यह कह देते थे कि वे बिल्कुल ही भूल गये कि उन्होंने सेना प्रमुख को क्यों बुलाया था या उनके साथ ऐसे किसी महत्वहीन विषय पर बात शुरू कर देते थे जिसके लिए अगले दिन तक रुका जा सकता था।

जब मैंने मेनन से कहा कि इन आरोपों का उत्तर दें तो उन्होंने संक्षिप्त और रहस्यपूर्ण ढंग से सिर्फ़ इतना ही कहा "मुझ से क्यों पूछते हैं ?"

इस प्रकार मेनन जो शुरू में अत्यन्त सर्वप्रिय रक्षा मंत्री थे अब अत्यन्त अप्रिय रक्षा मंत्री बन गये थे।

मेनन को चिढ़ थी ऐसे सब सैनिक अधिकारियों से जो स्वतन्त्ररूप से सोचने और निश्चय लेने की क्षमता रखते थे। थिमैया, थोराट, चौधरी, सेन, मानेकशॉ और वर्मा जैसे जनरल सेना के लिए जिनकी सेवाएँ गौरवपूर्ण थीं, मेनन को हार्दिक रूप से नापसन्द थे।

वास्तव में, किन्हीं अभिकथित टिप्पणियों के कारण मेनन ने थिमैया और थोराट के खिलाफ़ जाँच कार्रवाई शुरू करवा दी थी। वर्मा के विरुद्ध तो एक पूरी जाँच समिति ही बैठा दी गयी थी लेकिन इस समिति ने उन्हें अपराधहीन करार दिया था। इस प्रकार की समिति मानेकशॉ पर लगाये गये आरोपों की छान-बीन करने के लिए भी बैठायी गयी थी। समिति ने जनरल मानेकशॉ को निर्दोष पाया था लेकिन इस पर भी मेनन ने उनकी तरक्की रोक दी थी।

मेनन ने एक बार इस बात की तरफ़ भी संकेत किया था कि थिमैया राज्य विप्लव करना चाहते हैं और विश्वास किया जाता है कि रक्षा मंत्री के आदेशों के अनुसार प्रशासकीय अफ़सर उन पर निगरानी रखते थे। उस समय यह भी प्रस्ताव रखा गया था कि थिमैया को भारत का सबसे पहला पांच-स्टार जनरल बना दिया जाये लेकिन मेनन ने ऐसा नहीं होने दिया था।

सेना के वरिष्ठ अफ़सरों के खिलाफ़ मेनन के मन में इतना जबरदस्त पूर्वाग्रह पैदा हो गया था कि वे उनमें से किसी में कोई अच्छाई नहीं समझते थे। थोराट को वह ज़िद्दी और बढ़-चढ़कर बातें करने वाला आदमी समझते थे और इस कारण, थिमैया के निवृत्ति प्राप्त कर लेने के बाद, उन्होंने थोराट को सेनापति नहीं बनने दिया था। मेनन के अनुसार एक वरिष्ठ सैनिक अफ़सर 'काहिल' था, दूसरा 'पूर्णतः अयोग्य', तीसरा 'बेईमान', चौथा 'औरतों में दिलचस्पी रखनेवाला'।

रक्षा मंत्री की हैसियत से उन्हें सेना से कितना गहरा असन्तोष था यह मेनन के इन शब्दों से प्रगट है: "सैनिक अधिकारियों के नैतिक आचरण का स्तर बहुत नीचा था और उनमें कोई गुण नहीं थे। भारतीय वायु सेना पूर्णतः अयोग्य थी और रसद तथा अन्य सामान गहरी खाइयों और दूसरी गलत जगहों में गिराती थी। सरकार पर्याप्त विदेशी मुद्रा अधिकृत नहीं करती थी—सब इस बात के खिलाफ़ थे कि प्रति रक्षा पर ज्यादा खर्च किया जाये। यह महात्मा गांधी का देश था। ऐसी हालत में हम अपने निर्भय शत्रु के साथ केवल शतरंज का खेल ही खेल सकते थे।"

मेनन के मन में जनरल थापर के लिए भी उपेक्षा थी हालांकि उन्होंने थोराट के बजाय थापर को सेनापति नियुक्त किया था। मेनन ने १९६४ में

मुझे बताया कि थापर को नेफा के विभिन्न स्थानों के नाम तक नहीं मालूम थे। नेफा की पराजय के बाद मेनन ने इस बात से भी इनकार किया कि सेनापति के पद पर थापर की नियुक्ति के वे ज़िम्मेदार थे। उल्टे, मेनन ने कहा "सेना में अपने प्रभाव के कारण थापर ने अपने आप को पश्चिमी कमान्ड के सेनापति के वरिष्ठ पद पर नियुक्त करवा लिया और थोराट का तबादला पूर्वी कमान्ड को हो गया।"

१९६१ के बजट के ठीक पहले मेनन ने वरिष्ठ पत्रकारों को निमन्त्रित किया था उन्हें प्रतिरक्षा की समस्याओं की जानकारी देने के लिए। इस अनौपचारिक मीटिंग में मेनन ने आग्रहपूर्वक मुझ से कहा था कि थोराट के मुकाबिले थापर की सेवाएँ ज्यादा योग्यतापूर्ण और उत्तम थीं। मैंने जब उन्हें इस बात पर चुनौती दी तो उन्होंने मज़ाक किया : "अच्छा तो एक महाराष्ट्रियन दूसरे महाराष्ट्रियन का पक्ष लेने की कोशिश कर रहा है।"

मेनन पर सबसे गम्भीर आरोप यह है कि आधुनिक भारत के इतिहास के सबसे सकटपूर्ण समय उन्होंने सेना के दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पदों पर दो अयोग्य जनरल नियुक्त किये। भारत के सबसे उत्तम जनरल उस समय या तो युद्ध क्षेत्र से दूर मजबूरन ठलुआ बैठे थे या उन्हें रिटायर किया जा रहा था। थोराट बाहर हो ही चुके थे, चौधरी बाहर निकाले जा रहे थे।

प्रत्यक्ष रूप से प्रधान सेनापति के पद के लिए थापर की सबसे बड़ी योग्यता यह थी कि वे मोम की तरह ढाले जा सकते थे—मेनन के अनुसार थोराट जिद्दी स्वभाव के थे। मेनन को विश्वास था कि अपने अत्यन्त साधारण सेवा रेकार्ड के बावजूद प्रधान सेनापति नियुक्त किये जाने के कारण थापर मेनन के प्रति कृतज्ञ होंगे और उनके हाथों में कठपुतली बन जायेंगे।

लेकिन बाद में मेनन को निराश होना पड़ा क्योंकि थापर ने मात्र कठपुतली बने रहने से इनकार कर दिया। दो अवसर पर थापर ने डट कर अपने चिड़चिड़े रक्षा मन्त्री का विरोध किया।

नौ सेना ट्रेडवाटर के प्रमुख के रूप मे, इसी तरह, अजितेन्दु चक्रवर्ती जैसे वरिष्ठ तथा योग्यतर अधिकारी के बजाय उन्होंने शान्त स्वभाव वाले रियर एडमिरल बी० एस० एस० सोमन को पसन्द किया और वायु सेना के प्रमुख के रूप में आसानी से ढाले जा सकने वाले एयर वाइस मार्शल इन्जीनियर को।

इसी तरह जनरल स्टाफ के प्रमुख के पद पर उन्होंने लेफ्टिनेंट जनरल बी० एम० कौल को नियुक्त किया इसलिए नहीं कि कौल में असाधारण सैनिक योग्यता थी बल्कि इसलिए कि प्रधान मन्त्री कौल की बात सुनते थे।

देश मे मेनन के बहुत कम मित्र थे और थी नेहरू ही उनके राजनतिक अस्तित्व के एक मात्र आधार थ। अतः उनका विशेष हित इस बात में था कि

अपराधियों के बीच

जब बात बिगड़ने लगती है तो सम्बन्धित लोग तेजी से एक-दूसरे पर दोषारोपण करने में व्यस्त हो जाते हैं। अतः चीन के हाथों १९६२ में पराजित होने के विषय पर प्रशासकीय आसूचना एजेन्सी, सी० आई० बी०, को भी (जिस पर सेना निर्भर थी शत्रु के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए) आवश्यकता से अधिक दोष दिया गया है।

इस बात में कोई सन्देह नहीं कि युद्ध स्थल पर स्थित सेना की विशेष आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सी० आइ० बी० की कार्यविधि तथा उसके तरीकों को काफी हद तक कसना जरूरी है। रक्षामन्त्रालय द्वारा प्रस्तुत किये गये हेन्डरसन ब्रूक्स रिपोर्ट के संक्षिप्त संस्करण में कहा गया है "जाँच से यह पता चला है कि आसूचना के इकट्ठा करने का ढंग सामान्यतः सन्तोषजनक नहीं था। आसूचना सुस्ती से प्राप्त की जाती थी और उन्हें अस्पष्ट ढंग से रिपोर्ट किया जाता था।"

आगे कहा गया है 'आसूचना का दूसरा पहलू है उसको एकत्रित करना तथा उसका मूल्यांकन करना। यह बात मानी जा सकती है कि आसूचना के अस्पष्ट होने के कारण उसका मूल्यांकन पूरी तरह ठीक ढंग से न किया जा सका हो। इसीलिए चीनी सैनिक संगठन की स्पष्ट तस्वीर प्राप्त नहीं हो सकी थी। इस बात का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था कि शत्रु की पुरानी सैनिक व्यवस्था से नये संगठन का सम्बन्ध जोड़ा जाय। इस प्रकार मोर्चे पर हमारे दस्तों को इस बात की बहुत कम सूचना थी कि शत्रु के पास नये दस्ते हैं या पुराने दस्ते ही नये स्थलों में आ गये हैं। तीसरा पहलू है आसूचना का प्रसार। यह सिद्ध हो चुका है कि यदि आसूचना से कोई लाभ उठाना है तो महत्वपूर्ण सूचनाओं को अविलम्बता से मोर्चे पर स्थित दस्तों तक पहुँचाना आवश्यक है।

रक्षामंत्री ने लोक सभा में अपने वक्तव्य के अन्त में कहा कि "इस बात में कोई सन्देह नहीं कि हमें अपनी आसूचना व्यवस्था की काफी सीमा तक कायापलट करनी होगी।"

सन् '६५ के भारत-पाक युद्ध के समय भी सैनिक हैडक्वार्टर ने सी० आइ० बी० की कड़ी आलोचना की थी। इसके विपरीत सी० आई० बी ने शिकायत की थी कि सैनिक हेडक्वार्टर अक्सर उनकी रिपोर्टों और मूल्यांकनों की ओर ध्यान नहीं देता और उस समय तक उन पर कार्य नहीं करता जब तक घटनाओं से यह साबित नहीं हो जाता कि वे रिपोर्टें सही थीं।

उदाहरणार्थ, सी० आइ० बी० का दावा है कि १९६५ में कई दिन पहले सैनिक हेडक्वार्टर को यह सूचना दे दी गयी थी कि पाकिस्तानी भारी संख्या में अन्तःसरण कर रहे है और जम्मू के छंब सेक्टर में पाकिस्तानी आक्रमण की पूर्व सूचना दे दी थी। लेकिन हेडक्वार्टर ने उनकी रिपोर्टों की ओर ध्यान नहीं दिया था और दी गयी सूचना से कोई लाभ नहीं उठाया था।

लेकिन इस बात का लाक्षिक उदाहरण कि सी० आई० बी० के लिए सेना की विशेष आवश्यकताओं को समझना जरूरी है, वह सूचना रिपोर्ट जो १९६५ में सैनिक हेडक्वार्टर को दी गयी थीं और जिनमें बताया गया था कि सियालकोट सेक्टर में पाकिस्तान का आर्मर्ड डिवीजन देखा गया है।

क्योंकि उस समय तक सैनिक हेडक्वार्टर को यह पता नहीं था कि पाकिस्तानी सेना ने एक दूसरा आर्मर्ड डिवीजन संगठित कर लिया है, इसलिए यह तय मान लिया गया कि सियालकोट में १ला आर्मर्ड डिवीजन ही देखा गया है। बाद में यह प्रगट हुआ कि सियालकोट में जो आर्मर्ड डिवीजन देखा गया था वह नव संगठित ६ठा आर्मर्ड डिवीजन था और उनका अत्यन्त सशक्त १ ला आर्मर्ड डिवीजन भारत पर ज़बरदस्त तड़ित आक्रमण करने के लिए खेमकरण सेक्टर में स्थित था।

सियालकोट सेक्टर में देखे गये पाकिस्तानी आर्मर्ड डिवीजन को पहिचानने में सी० आइ० बी की असफलता सैनिक दृष्टिकोण से अक्षम्य थी और इसकी वजह से खेमकरण सेक्टर में काफी क्षति उठानी पड़ी थी। क्योंकि हमें यदि पता होता कि पाकिस्तान का अधिक शक्तिशाली आर्मर्ड डिवीजन सियालकोट के बजाय दक्षिण में स्थित है तो हम खेमकरण पर पाकिस्तान के जोरदार आक्रमण का ज्यादा अच्छी तरह मुकाबिला कर पाते।

जहाँ तक १९६२ की घटनाओं तथा सी० आइ० बी के काम का प्रश्न है, वहाँ यह मानना पड़ेगा कि यद्यपि उसकी कुछ रिपोर्टों में स्पष्टता की कमी थी, फिर भी सी० आइ० बी, विशेषतः १९५९ के बाद की रेखा के उस पार शत्रु की सरगर्मी के बारे में महत्वपूर्ण सूचनाओं का सारा महत्त्व खत्म हो गया

था क्योंकि सैनिक हेडक्वार्टर को इन रिपोर्टों पर बहुत कम विश्वास था और वे उनके आधार पर बहुत कम काम करते थे।

१९५९ और १९६२ के बीच सीमा के तिब्बत पक्ष पर चीनियों की तेज सैनिक सरगर्मी के बारे में कुछ अत्यन्त मजबूत और विस्तारपूर्ण रिपोर्टें पत्रों में छपी थीं लेकिन रक्षा तथा विदेश मन्त्रालयों ने पूरी कोशिश करके उनको दबा दिया था केवल इसलिए कि वे उनके अपने अनुमानों से मेल नहीं खाती थीं।

यह स्पष्ट है कि सी० आइ० बी० की रिपोर्टों पर (जिनमें से कई अत्यन्त गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण थी) सैनिक आसूचना निदेशालय के विश्वास न करने के कारण १९६२ के नेफा युद्ध में सैनिक कार्रवाइयों में और भी अधिक कठिनाइयाँ पैदा हुई थीं।

सैनिक हेडक्वार्टर का नवीनतम दृष्टिकोण (जिसे १९६५ में भारत-पाक युद्ध के कारण और भी प्रोत्साहन मिला है) यह है कि आसूचना कार्रवाई के सैनिक पहलू को सी० आइ० बी० से छीन कर सैनिक आसूचना निदेशालय को सौंप दिया जाये। इसमें यही खराबी नहीं है कि ऐसा करने से अतिरिक्त खर्चा होगा और काम दोहराये जायेंगे बल्कि यह प्रश्न भी उठता है कि क्या सैनिक आसूचना निदेशालय (जिसमें आजकल अव्यवसायी तथा नकली अधिकारियों की भरमार है) सी० आइ० बी० से ज्यादा कुशल और कारगर रूप से काम कर सकेगा।

इसके अलावा सैनिक आसूचना निदेशालय का प्रमुख एक "उड़ती चिड़िया" है। वह केवल दो वर्ष के लिए इस पद पर नियुक्त किया जाता है और न वह कोई विशेषज्ञ होता है। आसूचना एक अत्यन्त विशिष्ट विज्ञान है और उसका अपना एक अत्यन्त विकसित तन्त्र है। केवल विशेषज्ञ और व्यवसायी लोग ही इस कार्य को कुशलता से कर सकते हैं।

× × ×

अब प्रस्तुत है कुछ और तथ्य तथा तत्त्व जिनमें १९६२ की नेफा में भारत पराजय का अपराध बाँट देना चाहिए।

श्री नेहरू, मेनन तथा तत्कालीन सैनिक नेताओं के बाद अपराधियों की फेहरिस्त में नाम है संसद विरोधी दल का। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विरोधी दलों ने अपने विचारहीन व्यवहार से प्रधानमंत्री को गलत अवसर पर चीन की समस्या पर एक कड़ा दृष्टिकोण लेने के लिए विवश कर दिया था। विवशता के कारण अपनाये गये इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप उन्होंने गलत समय और गलत स्थान पर सेना को चीनियों से युद्ध करने का आदेश दिया था।

अक्तूबर १९६२ में जब नेफा सीमा पर युद्ध शुरू हुआ, तब तक विरोधी दल ने नेहरू सरकार को समय से पहले एक ऐसे मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया था जहाँ से लौटना असम्भव था और जिसके बाद केवल एक ही क़दम उठाया जा सकता था कि फायर करना शुरू कर दो भले ही बन्दूक में गोली न हो।

और न विरोधी दल इस बात से इनकार कर सकते हैं कि चीनी आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए उन्होंने देश को बिल्कुल तैयार नहीं किया था।

वास्तव में वही श्री कृपलानी, जो श्री नेहरू की चीन सम्बन्धी नीति के सबसे कट्टर विरोधी थे, १९५६ तक दूसरा ही राग अलापते रहे थे। पूर्णतः गांधीवादी होने के कारण उन्होंने १९५७ में लोक सभा में प्रतिरक्षा बजट पर बोलते हुए कहा था : "सेना पर बढ़ते हुए व्यय को काट देना चाहिए। गांधी के अनुयायियों तथा विश्वशांति की कामना करनेवाले लोगों को सैनिक खर्च नहीं बढ़ाने चाहिए अन्यथा उन आदर्शों के नाम में ली गयीं उनकी सारी शपथें झूठ सिद्ध हो जायेंगी।

अगले वर्ष प्रतिरक्षा बजट पर फिर बोलते हुए कृपलानी इससे आगे भी बढ़े। उन्होंने कहा : "मैं निवेदन करना चाहता हूँ—और यह एक ऐसी नाजुक बात है जिसकी ओर मैं संसद का और सारे देश का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ—कि हम यह विश्वास करते थे कि अहिंसावादी भारत में, सरकार सैनिक बजट का परिवर्धन करने की बात ध्यान तक में नहीं लायेगी। लेकिन मुझे अफसोस के साथ कहना पड़ रहा है, और मेरे ख्याल से बापू की आत्मा को भी इससे दुख पहुँचा होगा, कि पिछले कुछ वर्षों में प्रतिरक्षा बजट में १३-१४ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई है। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि हम अपना सैनिक संगठन क्यों बढ़ा रहे हैं? क्या किसी देश पर कब्जा करने की हमारी नीयत है?"

वास्तव में १९४७ के बाद सारा संसद ही कृपलानी की तरह, प्रतिरक्षा पर अधिक खर्च करने के खिलाफ़ था और बराबर ही प्रतिरक्षा संगठन को बढ़ाने तथा सेना के आधुनिक करण के लिए आवश्यक पूँजी को अधिकृत करने पर आपत्ति करता था।

काफी समय तक संसद में इस बात पर बहस होती रही थी कि एक अहिंसात्मक, गांधीवादी देश को बॉम्बर हवाई कमान्ड की आवश्यकता है या नहीं। इस बहस का आधार यह तर्क था कि बॉम्बर आक्रमणशील हथियार हैं और चूँकि भारत की नीयत किसी देश से युद्ध करने की नहीं है इसलिए भारत को उनकी कोई आवश्यकता नहीं।

इसी तरह बरसों तक सरकार और संसद विमान वाहक जैसी आवश्यक चीज के लिए नौ सेना की इस मांग को अनसुनी करते रहे।

पूरा राष्ट्र और उसकी संसद इस बात में दृढ़ रूप से विश्वास करते थे कि गांधी के देश के लिए एक बड़ी सेना रखना अनुचित है, कि आज के अणु युग में युद्ध एक दकियानूसी चीज हो गयी है और नीति का प्रश्न नहीं रह गयी है।

इस प्रकार इस वृहत्तर भूमिका में सैनिक अधिकारियों की जाने और अनजाने में की गयी गलतियां गौण हो जाती हैं।

१६

उपसंहार

पिछले छः वर्षों में भारत ने जो दो युद्ध लड़े हैं उनके कारण हमारी प्रतिरक्षा व्यवस्था की कई गम्भीर कमज़ोरियाँ प्रकाश में आयी हैं। उन्होंने हमें अधिकाधिक इस बात के प्रति सचेत किया है कि हमारी सेना, उसके युद्ध-साधन तथा प्रशिक्षण भयानक रूप से दक़ियानूसी हैं। वास्तव में वे सब द्वितीय महायुद्ध के काल के हैं। उस समय से दूसरे देशों की सेनाएँ नीति, प्रशिक्षण तथा अस्त्रों के क्षेत्र में बहुत दूर तक प्रगति कर चुकी हैं।

हेन्डरसन ब्रुक्स रिपोर्ट ने इनमें से काफ़ी बातों का अध्ययन किया होगा। लेकिन उस जाँच का प्राथमिक कार्य था १९६२ की पराजय के कारणों का विश्लेषण करना। १९६२ में चीन के खिलाफ़ उत्तरी सीमा पर लड़े गये युद्ध में किन कमियों के कारण भारतीय सेना की इतनी भीषण दुर्दशा हुई इसका विश्लेषण करने और इन कमियों को ठीक करने के लिए सुझाव पेश करने के बाद, समिति के लिए प्रत्यक्ष रूप से यह सम्भव नहीं था कि भारतीय सेना के आधुनिकीकरण के प्रश्न का व्यापक रूप से अध्ययन करती और देश की प्रतिरक्षा आवश्यकताओं के अनुपात में उसका मूल्यांकन करती।

वास्तव में, उस सीमित कार्य को देखते हुए भी जो उसको सौंपा गया था, हेन्डरसन ब्रुक्स समिति के रास्ते में एक मूल बाधा थी। उसका स्तर इतना उच्च नहीं था कि कार्य की गम्भीरता और उसके महत्त्व को देखते हुए, वह निर्भीकता और स्पष्टवादिता से काम ले पाती।

सेना में काफ़ी लोगों की यह राय थी कि लेफ्टिनेंट जनरल इतना ऊँचा अफ़सर नहीं कि इस कठिन कार्य को सन्तोषजनक रूप से पूरा कर सके। दूसरों का ख्याल था कि हेन्डरसन ब्रुक्स भारतीय सेना के सर्वोत्तम अफ़सर नहीं हैं— कहा जाता था कि उनका व्यक्तित्व इतना सौजन्यपूर्ण है कि वे कड़ी जाँच करने के अयोग्य हैं।

हेंडरसन ब्रुक्स समिति को (जिसके दूसरे सदस्य मेजर जनरल प्रेम भगत थे) किन बाधाओं का सामना करना पड़ रहा था यह इसी एक बात से स्पष्ट है कि वह जनरल कौल की गवाही देने के लिए अपने सम्मुख नहीं बुलवा सकी। कौल इस जाँच के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण गवाह थे लेकिन समिति को उनकी लिखित गवाही पर ही सन्तोष करना पड़ा था।

वास्तव में समिति का कर्तव्य था कि कौल से विस्तारपूर्वक प्रश्न करती क्योंकि वही एक सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र थे इस बात का पता लगाने के लिए कि अक्तूबर-नवम्बर १९६२ में नेफ़ा में वास्तव में क्या गड़बड़ हुई थी। कौल ने स्वयं समिति से लिख कर यह माँग की थी कि जबानी गवाही देने के लिए उन्हें बुलाया जाये लेकिन उनकी माँग को अस्वीकार कर दिया गया था।

इसके लिए यह बहाना पेश किया जाता है कि कौल पद के दृष्टिकोण से हेंडरसन ब्रुक्स से ऊँचे थे और एक अवर अधिकारी के सामने एक प्रवर अधिकारी के गवाह के रूप में कठघरे में खड़े होने से नया धार भंग होता था।

होना यह चाहिए था कि कोई अवकाश प्राप्त, पूर्ण जनरल ऐसी महत्त्व-पूर्ण समिति की अध्यक्षता करता। जनरल करियप्पा इस पद के लिए सबसे आदर्श व्यक्ति थे—एक उत्तम सेनानी के रूप में उनका बहुत मान था, सेना के सब वर्ग उनका आदर करते थे और वे अत्यन्त ईमानदार तथा साहसी व्यक्ति थे।

अतः जिन सीमाओं के बीच हेण्डरसन ब्रुक्स समिति काम कर रही थी उन्हें देखते हुए यह स्पष्ट था कि उसकी रिपोर्ट और उसके सुझाव इतने व्यापक तथा दूर तक पहुँचने वाले नहीं हो सकते थे जितना विषय की गम्भी-रता के दृष्टिकोण से आवश्यक था। उनके लिए असम्भव था कि तीनों सैनिक सेवाओं को ध्यान में रख कर हमारे प्रतिरक्षा संगठन के पूर्ण आधुनिकीरण के लिए यह महत्त्वपूर्ण सुझाव पेश करे।

ऐसी जाँच करते समय, इस समिति को अमरीका, रूस तथा ब्रिटेन जैसे मित्र राष्ट्रों से राय लेने में झिझकना नहीं चाहिए था।

भारत के सारे इतिहास में हमारी सेनाओं ने अनेक आक्रमणों को झेला है और उनमें कभी साहस और शौर्य की कमी नहीं रही है। लेकिन अक्सर उनके पास उचित अस्त्र नहीं रहे हैं और अक्सर अयोग्य सेनापतियों ने उनका नेतृत्व किया है। एक अच्छे सेनापति का मतलब होता है एक सुप्रशिक्षित, अनुशासित सेना।

यह पाठ राष्ट्र के दिल पर अमिट रूप से खुदा हुआ है—१९६२ में चीन के साथ युद्ध ने इस पाठ की और भी पुष्टि की है।

इसके पहले कि हमें फिर अपनी सुरक्षा के लिए युद्ध करना आवश्यक हो, हमें इन गम्भीर कमज़ोरियों को फ़ौरन ठीक कर लेना चाहिए।

इसके बावजूद कि १९६५ में पाकिस्तान से लड़े गये युद्ध में हमारी सेना ने अपना अच्छा परिचय दिया था इस बात की आवश्यकता प्रत्यक्ष रूप से है कि हम अपने प्रतिरक्षा संगठन का पूर्ण कायाकल्प कर दें ताकि युद्ध नीति तथा अस्त्र तन्त्र के दृष्टिकोण से वह पूरी तरह आधुनिक हो जाये और वैयक्तक पहल क्षमता तथा गतिशीलता को उचित महत्त्व दिया जाये।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि जब कि हम युद्ध पूर्व की ब्रिटिश सैनिक प्रणाली को अपनाये बैठे हैं, स्वयं ब्रिटिश सेना में कई और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके है। सेना को डिवीजनों में विभक्त करने की पद्धति के बजाय लचीले टास्क दस्तों और कार्म्बेट दलों की पद्धति अपनायी जा रही है। उदाहरणार्थ इन्फैन्टरी-आर्टिलरी-आर्मर संगठन के स्थान पर पैराटू प-हेलीकॉप्टर-कमाण्डो संगठन की व्यवस्था अब अधिक काम में लायी जा रही है।

१९६२ में स्पष्ट हो गया था कि चीनी सेना, यद्यपि वह हमारी भूमि पर लड़ रही थी, गतिक्षमता, अनुशासन तथा विशेष भूप्रदेश में लड़ने के लिए आवश्यक प्रशिक्षण में हमारी सेना से कहीं उत्तम थी। चीनी गोरिल्ला युद्ध पर जोर देते हैं और वैयक्तिक पहल क्षमता उसकी सैनिक शिक्षा का मूल अंग है।

पुरानी ब्रिटिश प्रणाली में बंधी हुई भारतीय सेना अभी तक समतल मैदान पर लड़ने के योग्य है और इसलिए ऊँचे तथा दुर्गम भू प्रदेश पर लड़ने के तरीक़ों तथा आवश्यकताओं को वह धीरे-धीरे ही अपना पा रही है। मैं जानता हूँ कि १९६२ के बाद से आज तक इस दिशा में काफ़ी प्रगति हुई लेकिन मेरे ख्याल से उतना नहीं हुआ है जितना आवश्यक है—शायद हम अभी तक इस समस्या की सतह पर ही हैं।

हमारा मुख्य शत्रु आज भी चीन है और हमारा मुख्य युद्ध प्रांगण हिमालय का पर्वतीय प्रदेश। यदि ऐसा है तो हमें अपनी सारी सैनिक विचारधारा तथा सामरिक प्रशिक्षण को इसके अनुकूल ही बनाना होगा। आज पाकिस्तान की समस्या गौण है और यह समस्या कभी खड़ी भी हुई तो हमारी सेना परिचित भूमि पर उसका मुकाबिला करने की क्षमता रखती है।

ब्रिटिश परम्परा का और अनावश्यक प्रभाव है कि भारतीय सेना का प्रशासकीय अंग उसके लड़ने वाले अंग के अनुपात में कहीं बड़ा है। चीन की सेना में मुश्किल से कोई प्रशासकीय अंग है और इसलिए उसका लड़ाकू अंग बहुत विशाल है। हर चीनी सैनिक अपना राशन अपने ही बैग में रखता है। इसके अलावा वह भारतीय जवान से ज्यादा कष्ट सहने का आदी है।

जून १९६७ में रक्षा मन्त्री स्वर्णसिंह ने लोक सभा को यह आश्वासन दिया था कि उन्होंने भारतीय सेना में 'टूथ टु टेल' अनुपात को ५७ : ४३ से घटा कर ६२ : ३८ कर दिया है। यह एक सराहनीय बात है लेकिन काफ़ी

नहीं क्योंकि भारतीय सेना के मुकाबिले में चीनी सेना है जिसे आत्म-निर्भर होने तथा स्थानीय रूप से प्राप्य भोजन पर जीवित रहने की शिक्षा दी जाती है और जो आधुनिक सामरिक नीति के साथ गोरिल्ला युद्ध का भी प्रयोग करती है।

१९६२ के युद्ध में यह प्रदर्शित हुआ था कि ऊँचे पर्वतीय भूप्रदेश पर लड़ने के लिए चीनी सामरिक नीति का मुकाबिला हम नहीं कर सकते। १९६५ के भारत-पाक ने यह और भी अच्छी तरह साबित कर दिया कि हमारी युद्ध-नीति प्रशिक्षण, अस्त्र तथा अन्य सामग्री दकियानूसी हैं। भारत-पाक युद्ध के बारे में एक प्रसिद्ध अमरीकी सैनिक टिप्पणीकार ने लिखा है "पाकिस्तान के विरुद्ध भारत की प्रतिरक्षा पद्धति सफल साबित हुई लेकिन ऐसे कुशल शत्रु के खिलाफ यही पद्धति बिल्कुल बेकार साबित होती जो रात में बाजू से घेरा डालकर, पैराट्रूपों और हेलिकॉप्टर विरचना का प्रयोग करता, टैंकों के आगे आमद पैदली सेना तथा कॉम्बैट इंजीनियरों को रख कर वार करता और धूम्र यवनिका तथा बमों की अनवरत वर्षा के पीछे से आक्रमण करता।"*

फील्ड मार्शल सर विलियम स्लिम ने, जिनके नेतृत्व में भारत तथा ब्रिटिश सेनाओं ने १९४५ में बर्मा में जापानियों को पराजित किया था, भविष्य की आदर्श सेना की दो मुख्य आवश्यकताएँ बतायी हैं— (१) कुशल तथा दृढ़ संकल्पवाले अवर अधिकारी और (२) शारीरिक रूप से कठिनाई सहने की क्षमता रखनेवाले, आत्म निर्भर तथा अनुशासित सैनिक।

सर विलियम के अनुसार भविष्य के भूमि युद्ध में सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि ऐसे अधिकारी तथा सैनिक फ़ौरन प्राप्य हों जो अलग अलग छोटी छोटी विरचनाओं में बंध कर युद्ध कर सकें। उन्होंने कहा है कि "नये अस्त्रों तथा तात्रिक युक्तियों को इस्तेमाल करने की शिक्षा शीघ्र ही दी जा सकती है। कठिनाइयाँ सहन करने की शक्ति पहल क्षमता, आपसी विश्वास तथा निपट नेतृत्व के गुण विकसित करने में ज्यादा समय लगता है।"

क्योंकि युद्ध अस्त्रों के बीच नहीं व्यक्तियों के बीच होता है, इसलिए सर विलयम ने अन्त में कहा है "अस्त्र क्षमता बराबर भी होने के बावजूद जीत उसी पक्ष की होगी जो प्रशिक्षण तथा हौसले के दृष्टिकोण से ज्यादा उत्तम होगी। यह ऐसे गुण हैं जो न आसानी से न जल्दी से न धन से ज्यादा और चीजों के बलिदान के बिना।" यह बात जून प्राप्त किये जा सकते हैं १९६७ में अरब-इजराइल के तड़ित युद्ध में बहुत अच्छी तरह सिद्ध हुई थी।

---

* अमरीका के मिलिटरी रिव्यू के फरवरी १९६६ के अंक में लियो हीमान के लेख से उद्धृत।

इस बात में क़तई सन्देह नहीं कि भारतीय वायु सेना में अत्यन्त कुशल साहसी और अनोखे युवक हैं लेकिन वे भी स्पष्ट रूप में यह स्वीकार कर लेंगे कि तनिक और अधिक कसाव तथा आधुनिकीकरण की गुंजाइश है।

१९६२ में हिमालय में दूर दूर पर बिखरी हुई तथा अत्यन्त दुर्गम स्थितियों में बनी हुई हमारी चौकियों को अवपातन द्वारा समान पहुँचाने का काम भारतीय वायु सेना का था लेकिन इस काम को उसने अत्यन्त अकुशल ढंग से किया था और अक्सर वह असफल ही रही थी। कठिन परिस्थितियों में फंसी हुई हमारी भूमि सेना को केवल यही सहायता पहुँचाने का उत्तरदायित्व वायु सेना पर डाला गया था।

१९६५ में भारतीय वायु सेना ने बहुत गौरवपूर्ण तथा सफल ढंग से भूमि सेना की सहायता की थी लेकिन यही बात उसके युद्ध नीतिक बमबारी मिशनों तथा ऐयर ब्रिज सप्लाई कार्रवाई के बारे में नहीं कही जा सकती।

इसके अलावा छः विभिन्न देशों से मंगाये हुए विमानों तथा उनके उपकरणों के कारण यदि मरम्मत, स्पेयर पार्टों तथा रखने की सुविधाओं का मानकीकरण करना अव्यावहारिक है तो कम से कम किसी सीमा तक युक्तिकरण करना आवश्यक है।

आधुनिक युद्ध व्यवस्था में वायु सेना का श्रेष्ठतम महत्व होने के कारण यह ज़रूरी है कि भारतीय वायु सेना को सुधारने की बात को उच्चतम प्राथमिकता दी जाये और नीति, प्रशिक्षण तथा उपकरणों के क्षेत्रों में उसे पश्चिम के अन्य देशों की वायु सेनाओं के धरातल तक विकसित किया जाये।

चूंकि अपने २६०० मील लम्बे सीमान्त पर चीन का आतंक आज भी जीवित है इसलिए हमारे लिए इस समस्या को अभी पूर्णतः सन्तोषजनक रूप से हल करना शेष है कि सही तरह के विमान प्राप्त करें और उन ऊँचाइयों तथा दुर्गम प्रदेश पर और बुरे मौसम में युद्ध करने के लिए अपनी भूमि सेना को उपकरणों तथा अस्त्रों से सुसज्जित करें।

और सबसे अनिवार्य बात यह है कि हम हिमालय के अत्यन्त दुर्गम प्रदेश द्वारा प्रस्तुत चकरा देने वाली संभार समस्याओं के हल ढूंढे क्योंकि अग्रिम चौकियों को मिलाने वाली सड़कों का जाल बिछा देने के बाद भी काफ़ी सीमा तक हवाई अवपातन पर ही निर्भर रहना होगा।

केवल इसी एक विषय पर लगातार शोधात्मक प्रयत्न करने पड़ेंगे और निकट से इस बात का अध्ययन करना आवश्यक होगा कि समान भूप्रदेश तथा मौसमवाले अन्य देशों ने इस समस्या को कैसे हल किया है। १९६० तक सैनिक हेडक्वार्टर जो बहाना करता था कि इन स्थानों पर शारीरिक रूप से असम्भव है, वह अब नहीं चल सकता।

हमारी नौ सेना वास्तव में रक्षा संगठन की सौतेली सन्तान है। उसकी तरफ़ क़तई ध्यान नहीं दिया जाता है। उसको सबसे कम आजमाया गया है और तीनों सैनिक अंगों में वह सबसे कम प्रभावास्पद है। जब कि संयुक्त अरब तथा इंडोनेशिया के पास दर्जनों सब-मैरीन हैं (यहाँ तक कि पाकिस्तान के पास भी दो हैं) हमारे पास एक भी सब-मैरीन नहीं है। जब कि हमारा तट बहुत ज्यादा लम्बा है और हम विशाल समुद्री तिजारत की रक्षा करनी है, हमारी नौ सेना मात्र एक खिलौना है—और वह भी एक अत्यन्त साधारण खिलौना।

उसका एक मात्र विमान वाहक अत्यन्त खस्ता हालत में है और उसे 'बीमार क्वीन' का नाम दे दिया गया है क्योंकि अधिकतर वह शुष्क डॉक में ही रहता है और समुद्री युद्ध में भाग लेने के लिए बिलकुल बेकार है। १९६५ में जब भारत-पाक युद्ध छिड़ा था तब भी वह शुष्क डॉक में ही पड़ा हुआ था।

द्वितीय महायुद्ध के बाद की नौ सेनाओं में विमान वाहकों और सब-मैरीनों पर ज्यादा जोर दिया जाता है। हमारे पास कम से कम एक और विमान-वाहक होना चाहिए और यह आवश्यक है कि उसके उपकरण आधुनिक हों और वह युद्ध योग्य हो। उसके अलावा यदि भारतीय नौ सेना को अपने उत्तरदायित्वों को सफलतापूर्वक पूरा करना है तो उसके पास बहुत-सी सब-मैरीनें, एंटी एयरक्राफ्ट और एंटी सब मैरीन जहाज होने चाहिए।

रक्षा मन्त्रालय के हक़ में यह कहना आवश्यक होगा कि १९६२ की पराजय के बाद, सेना को ठीक करने के लिए काफ़ी लगन से प्रयत्न किये गए हैं। १९६४ के शुरू में भारत सरकार ने प्रतिरक्षा के लिए एक पंच वर्षीय योजना अधिकृत की जिसके अन्तर्गत सैनिक संख्या को ८,२५,००० तक बढ़ाने तथा उसको आधुनिकतम अस्त्रों तथा अन्य युद्ध सामग्रियों से लैस करने की, आधुनिक विमानों तथा उपयुक्त अनुषंगी सुविधाओं से युक्त ४५ स्क्वाड्रन की वायु सेना स्थापित करने की और नौ सेना में पुराने जहाजों को बदल कर नये विदेशी या भारतीय जहाजों को प्राप्त करने की योजना थी।

इसी पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत सैनिक सामग्री प्राप्त करने के क्षेत्रों में बाहर के सूत्रों पर निर्भरता को कम करने के लिए उत्पादन सुविधाएँ पैदा करना, सीमान्त क्षेत्रों में संचार तन्त्र को उत्तमतर बनाने और खाद्य संगठन को बढ़ाने का निश्चय भी किया गया था। इस योजना की लागत ५,००० करोड़ निश्चित की गयी थी।

वास्तव में अमरीकी प्रतिरक्षा सचिव रॉबर्ट मैक्नमारा ने अपनी १९६८ की वार्षिक रिपोर्ट में साम्यवादी प्रभाव क्षेत्र के बाहर भारत को एशिया की सबसे विशाल सैनिक शक्ति बताया था। उन्होंने कहा था कि चीन की २ करोड़ २० लाख सेना (अपनी सीमा के बाहर जिसकी आक्रमण क्षमता सीमित थी)

के मुकाबिले भारत की सैनिक संख्या १ करोड़ दस लाख है और इस सेना में चीनी आक्रमण के ख़िलाफ़ अपने देश की रक्षा करने की शक्ति है।

मैकनमारा ने यह भी कहा कि चीनियों के मुक़ाबिले अब प्रति भारतीय सैनिक की फ़ायर-शक्ति ज्यादा थी और "अधिक अच्छी संचार तथा यातायात व्यवस्था की सहायता से अब वह ज्यादा तेज़ी से मार्के के स्थानों मे पहुँच सकते थे।"

वर्तमान प्रतिरक्षा व्यवस्था में एक और महत्त्वपूर्ण कमी इस बात की भी है कि उसमें ऐसा कोई तन्त्र हो जो व्यापक युद्ध नीति की रचना करे, जो देश की विदेश नीति के संदर्भ में इस युद्ध नीति को ढाले और जिसमें ऐसा विभाग भी हो जो सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक तत्वों के बारे में निरन्तर शोध करता रहे।

ऐसा विशेष तन्त्र स्टाफ़ प्रमुखों की समिति को बराबर अधिकृत आधार सामग्री देता रहेगा जिसकी सहायता से यह समिति प्रतिरक्षा क्षमता पर पड़ने वाले विदेशी नीति के प्रभाव के बारे में सरकार को उचित सलाह दे सकेगी। क्यों कि यदि स्टाफ़ प्रमुखों की समिति को सार्थक रूप से काम करना है तो उसका कर्त्तव्य केवल यही नहीं है कि तांत्रिक रूप से सरकार की नीतियों को कार्यान्वित करे बल्कि विचार करके सलाह देकर उन नीतियों को इस रूप से ढालने में सहायक हो कि देश की प्रतिरक्षा क्षमता से उनका साम्य हो।

ऐसा तन्त्र भारत जैसे देश में और भी आवश्यक है क्योंकि यहाँ की सरकार को चलाने वाले राजनीतिज्ञ अव्यवसायी हैं और प्रतिरक्षा की समस्याओं की उन्हें पूरी जानकारी नहीं है। इसलिए इस आवश्यक क्षेत्र में यह जरूरी है कि उन्हें सैनिक संगठन से सही परामर्श प्राप्त हो।

१९६४ में रक्षा मंत्रालय के स्थापित होने के बाद जो प्रणाली ब्रिटेन में अपनायी गयी थी वैसी ही प्रणाली शायद हमारी आवश्यकताओं के लिए भी उत्तम हो सकती है। वहाँ एक प्रतिरक्षा स्टाफ़ समिति की स्थापना की गयी है जिसके सभापति सैनिक व्यवसाय से लिए गये प्रतिरक्षा स्टाफ़ के प्रमुख हैं और नौ सेना, भूमि सेना तथा वायु सेना के प्रमुख जिसके अन्य सदस्य हैं।

समिति के सभापति होने की हैसियत से प्रतिरक्षा स्टाफ़ के प्रमुख का यह कर्त्तव्य है कि समिति का सम्मिलित परामर्श राज्य सचिव को दे। स्टाफ़ समिति के प्रमुख सम्मिलित रूप से सरकार के प्रति इस बात के लिए उत्तरदायी हैं कि कि युद्ध नीति तथा सैनिक कार्रवाई और प्रतिरक्षा नीति के सैनिक प्रभावों के बारे मे व्यावसायिक सलाह दें।

स्थायी उपराज्य सचिव तथा प्रमुख वैज्ञानिक सलाहकार के साथ प्रतिरक्षा स्टाफ़ के प्रमुख भी रक्षा मंत्री के मुख्य सलाहकार हैं।

१९६७ में संसद में दिये एक भाषण में रक्षा मंत्री चव्हाण ने कहा था कि अस्तित्व विकास से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। इसको देखते हुए आज सरकार के लिए इसी बात की विशेष आवश्यकता है कि आधुनिक संदर्भ में देश की प्रतिरक्षा आवश्यकताओं का व्यापक रूप से मूल्यांकन करे और प्रकाश में आयी हुई कमियों को पूरा करने के लिए एक उच्च प्राथमिक प्रोग्राम आरम्भ कर दे।

एक नये अविकसित देश में जिसमें अनेक फूट पैदा करने वाली शक्तियाँ काम करती हैं सेना का यह भी कर्तव्य होता है कि वह इन अराजकतावादी शक्तियों से सरकार की रक्षा कर और उसके संगठन को कायम रखे।

सेना को अक्सर आम अन्दरूनी बलवों का दमन करना पड़ता है और भविष्य में इस बात की भी सम्भावना पैदा हो सकती है कि संगठित साम्यवादी गोरिल्लाओं तथा प्रादेशिक अराजकतावादियों से शासन के स्थायित्व की रक्षा करनी पड़े।

जिस रफ्तार से देश की राजनैतिक स्थिति बिगड़ रही है उसे देखते हुए ऐसी परिस्थिति को असम्भव नहीं कहा जा सकता। वास्तव में साम्यवादियों ने पश्चिमी बंगाल के नक्सलवाड़ी, २४ परगने और आसनसोल आदि क्षेत्रों में उत्पातों का क्रम शुरू कर ही दिया है। पश्चिमी बंगाल के साम्यवादी खुले तौर पर गोरिल्ला विद्रोह शुरू करने की बात करते रहे हैं।

इसके अलावा उत्तर-पूर्वी सीमा कबीलों के उपद्रवों का दमन करने के लिए सेना अधिकाधिक काम में लायी जा रही है। नागालैण्ड तथा मिज़ो ज़िले में सेना को वास्तविक गोरिल्ला युद्ध का सामना करना पड़ा है।

इसलिए अब वह समय आ गया है जब भारतीय सेना को उचित रूप से गोरिल्ला युद्ध तथा विद्रोह दमन का प्रशिक्षण देना आवश्यक हो गया है। इसके लिए विशेष तन्त्रों और सामरिक नीतियों का ज्ञान, गतिशील आक्रमण क्षमता तथा निकटतम प्रादेशिक नियंत्रण आवश्यक होता है। विद्रोह-दमन में कौशल प्राप्त करने के लिए यह जरूरी है कि उस प्रदेश के राजनैतिक तथा सामाजिक व्यक्तित्व की पूरी जानकारी हो जिसमें विद्रोह का दमन करना है।

सेना के वरिष्ठ अधिकारियों को यह समझ लेना चाहिए कि आधुनिक सेना के लिए राजनैतिक रूप से सजग होना जरूरी है। यदि सेना को अपना उत्तरदायित्व कुशल और असरदार ढंग से पूरा करना है तो उसमें देश की राजनैतिक गतिविधियों को भली भाँति समझने का चातुर्य होना आवश्यक है।

उत्तरोक्ति : नीतियों में द्वैधवृत्ति

अपने पड़ोसियों के प्रति किसी भी देश की जो नीति होती है उसे विदेश नीति कहते हैं।

अब तक भारत की विदेश नीति की जड़ें उपनिवेशवाद विरोध तथा अपक्षवाद के आदर्शों में जमी रही हैं। लेकिन अब यह दोनों आदर्श लगभग रिक्त और निरर्थक हो चुके हैं। और इसलिए अपने पड़ोसी चीन तथा पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों की विवशता के संदर्भ में हमारी विदेश नीति असंगत सिद्ध हो रही है।

वास्तव में हमारी नीति और यथार्थ परिस्थिति की आवश्यकताओं के बीच जो असंगतता थी उसी के कारण हमें ६२ में चीन के साथ संघर्ष करने में उलझना पड़ा था।

जहाँ तक मेरा ख्याल है, पाकिस्तान के प्रति भी हमारी नीति निश्चित रूप से सचेत और उद्देश्यात्मक नहीं है। इसके विपरीत, भारत के प्रति पाकिस्तान के रुख में बराबर ही एक सुनिश्चित प्रणाली और स्थायित्व रहे हैं। यदि हमारी पाकिस्तान-नीति में भी यही बात होती तो हम इतनी ग़लतियाँ नहीं करते और समय-समय पर हमें अपनी नीति में उलट-फेर करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

यदि हमारी विदेश और प्रतिरक्षा नीतियाँ पाक-आधारित हैं तो ऐसा इस कारण नहीं है कि हमने जान-बूझ कर उन्हें यह रूप दिया है बल्कि इसलिए कि हमारी मूल सहज प्रवृत्तियों तथा कुंठाओं ने उन्हें इस रूप में ढाल दिया है। इसका एक उदाहरण यह है कि जब भी कभी कश्मीर का जिक्र होता है तो हम आदतन भड़क उठते हैं।

इसके अतिरिक्त यदि विदेश नीति का समर्थन करने के लिए आवश्यक प्रतिरक्षा क्षमता न हो तो वह नीति नपुंसक होती है। इसी प्रकार यदि देश की प्रतिरक्षा क्षमता उसकी विदेश नीति से असम्बद्ध हो तो वह निरर्थक होती है। प्रतिरक्षा क्षमता की ओर से आँखें मूँद कर विदेश नीति की रचना करना वास्तव में राष्ट्रीय आत्मघात है।

अतः यथार्थवादी विदेश नीति वह है जो देश की प्रतिरक्षा क्षमता का ध्यान में रख कर अपने को ढालती और परिवर्तित करती है। साथ ही, अक्सर विदेश नीति की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रतिरक्षा संगठन को विशेष रूप से कसना पड़ता है और प्रतिरक्षा को और चीजों के ऊपर प्राथमिकता देनी पड़ती है। यदि देश को संकट से बचाना है तो विदेश तथा प्रतिरक्षा नीतियों के बीच समन्वय होना आवश्यक है।

सन ५० ६० के बीच के शान्तिपूर्ण दशक में भारत सरकार इन नीति सम्बन्धी स्वयंसिद्ध सत्यों को न देख सकी थी, न समझ सकी थी। इसी कारण हमें १९६२ का वह कड़वा सबक सीखना पड़ा था। इस सबक ने स्पष्ट रूप से यह बात सिद्ध कर दी थी कि देश की प्रतिरक्षा क्षमता और विदेश नीति मूलतः एक-दूसरे पर निर्भर है और इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि विदेश कार्यालय और प्रतिरक्षा संगठन या ज्वाइन्ट चीफ्स ऑफ़ कमेटी के बीच निकटतम सम्पर्क रहे।

इसके अलावा इस बात की भी अनिवार्यता स्पष्ट हो गयी थी कि सैनिक हेडक्वाटर लागातार विदेश नीति का पुनर्विलोकन करता रहे ताकि प्रतिरक्षा क्षमता विदेश नीति के किसी भी पेंच और मोड़ से पैदा हुई आवश्यकता के अनुकूल ढाली जा सके। यह सबक भी हमने अपने अपमान और दुर्दशा की क़ीमत पर १९६२ में सीखा था।

पिछले अध्याय में हम इस बात पर चिन्तन कर चुके हैं कि प्रतिरक्षा संगठन को किन तरीक़ों से सशक्त और इस योग्य बनाया जा सकता है, कि देश की बाहरी सुरक्षा के प्रति वह अपना कर्तव्य सफलता से पूरा कर सके।

सैनिक हेडक्वाटर या ज्वाइन्ट चीफ्स ऑफ़ स्टाफ़ कमेटी देश की सुरक्षा के प्रहरी हैं और इसलिए उनका प्राथमिक वक्तव्य है कि यदि विदेश नीति प्रतिरक्षा क्षमता से क़दम मिला कर नहीं चल रही है तो वे इस बारे में सरकार को स्पष्ट चेतावनी दें। सन् ६२ के पूर्व के दशक में सैनिक हेडक्वाटर अपने इस उत्तरदायित्व को पूर्ण न करने का अपराधी है।

उत्तरी सीमान्त पर घुमड़ते हुए संकट के बादलों के प्रति सैनिक हेडक्वाटर पहली बार १९६० में सचेत हुआ था लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। उस वर्ष सैनिक हेडक्वाटर ने, परिस्थितियों का पर्यवेक्षण करके यह अनुमान लगाया था कि सम्भावित चीनी आक्रमण १९६३ में होगा। आक्रमण एक वर्ष पहले ही हो गया।

जनवरी, १९६२ के बाद से सरकार ने सैनिक हेडक्वार्टर से यह कहना शुरू किया कि वह आगे बढ़ कर शत्रु को रोके और सैनिक हेडक्वार्टर ने यह आपत्ति प्रगट करनी शुरू की कि प्राप्य साधनों को देखते हुए ऐसा नहीं किया जा सकता।

और इस प्रकार मनोवैज्ञानिक रूप से हताश और साधनाभाव की चिन्ता से ग्रस्त भारतीय सेना सन् ६२ की पतझड़ में शत्रु का सामना करने के लिए युद्धस्थल में उतरी।

फिर भी इस बात में कोई सन्देह नहीं कि यदि हम युद्ध के पहले के बारह वर्षों में मिलने वाली चेतावनियों की ओर ध्यान देते और सारी शक्ति लगाकर २,६०० मील लम्बी सरहद पर अपनी प्रतिरक्षा व्यवस्था को संगठित करते तथा उस क्षेत्र की संभार समस्याओं को हल करते तो हम सन्, ६२ में ज्यादा अच्छी तरह अपनी रक्षा कर पाते। हमें चीनी आक्रमण का पूर्व ज्ञान होता और हम सैनिक तथा राजनयिक दोनों दृष्टिकोणों से उससे ज्यादा सफलता पूर्वक निपट पाते।

× × ×

आक्रमण से तीन महीने पहले, जुलाई १९६२ के सेमिनार नामक पत्र में जनरल थिमैया (जो १९६१ तक सेना प्रमुख थे) ने स्वीकार किया है—

> "जहाँ तक पाकिस्तान का प्रश्न है, मैं युद्ध सम्भव समझता हूँ लेकिन चीन के बारे में मैं यही बात नहीं कहूँगा। एक सैनिक की हैसियत से मैं इस बात को सोच भी नहीं सकता कि भारत अकेला चीन के साथ युद्ध कर सकता है। सोवियत रूस की पूरी सहायता के कारण सैनिक संख्या, साधन और हवाई क्षमता के दृष्टि कोण से चीन की शक्ति हमसे सौगुनी है और इस लिए निकट भविष्य में हम चीन से मोर्चा लेने की बात सोच भी नहीं सकते। देश की रक्षा का भार आज राजनैतिकों और राजनयिकों पर ही है।"

स्पष्टत: सेना प्रमुख की हैसियत से भी थिमैया के यही विचार थे जो उन्होंने रक्षा मंत्री को प्रस्तुत किये थे। लेकिन मेनन को यह परामर्श देना अनावश्यक था क्योंकि सरकार को यह विश्वास था कि चीन कभी भारत पर आक्रमण नहीं करेगा।

इस स्वयं सिद्ध सत्य को व्यक्त करने के लिए किसी जनरल की आवश्यकता नहीं थी। सोवियत सहायता के बिना भी चीन की सैनिक शक्ति भारत से कहीं ज्यादा थी। आज जब चीन-पाक गठबन्धन ने एक ठोस असलियत का रूप ले लिया है तो चीन या पाकिस्तान के साथ किसी भावी संघर्ष में हमें दो मोर्चों पर लड़ना होगा। इसलिए यह बात शीशे की तरह साफ है कि हमारी सेना इतने बड़े संकट से नहीं निपट सकती थी और इसलिए आज देश की सुरक्षा व्यवस्था को राजनैतिक तथा राजनयिक समर्थन देना आवश्यक है।

यदि हम अपने प्रिय भ्रमों को सीने से लगाये न बैठे रहते तो परिस्थिति की असलियत हममें यह विवेक जाग्रत कर देती कि अपनी सैनिक क्षमता को राजनयिक युक्तियों से और सशक्त बना लें। हमख्याल देशों के साथ मिलकर

अतः यथार्थवादी विदेश नीति वह है जो देश की प्रतिरक्षा क्षमता का ध्यान में रख कर अपने को ढालती और परिवर्तित करती है। साथ ही, असर विदेश नीति की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रतिरक्षा संगठन को विशेष रूप से कसना पड़ता है और प्रतिरक्षा को और चीज़ों के ऊपर प्राथमिकता देनी पड़ती है। यदि देश को संकट से बचाना है तो विदेश तथा प्रतिरक्षा नीतियों के बीच समन्वय होना आवश्यक है।

सन ५०-६० के बीच के शान्ति पूर्ण दशक में भारत सरकार इन नीति सम्बन्धी स्वयंसिद्ध सत्यों को न देख सकी थी, न समझ सकी थी। इसी कारण हमें १६६२ का वह कड़वा सबक सीखना पड़ा था। इस सबक ने स्पष्ट रूप से यह बात सिद्ध कर दी थी कि देश की प्रतिरक्षा क्षमता और विदेश नीति मूलतः एक-दूसरे पर निर्भर हैं और इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि विदेश कार्यालय और प्रतिरक्षा संगठन या ज्वाइंट चीफ्स ऑफ़ कमेटी के बीच निकटतम सम्पर्क रहे।

इसके अलावा इस बात की भी अनिवार्यता स्पष्ट हो गयी थी कि सैनिक हेडक्वाटर लगातार विदेश नीति का पुनर्विलोकन करता रहे ताकि प्रतिरक्षा क्षमता विदेश नीति के किसी भी पेंच और मोड़ में पैदा हुई आवश्यकता के अनुकूल ढाली जा सके। यह सबक भी हमने अपने अपमान और दुर्दशा की क़ीमत पर १६६२ में सीखा था।

पिछले अध्याय में हम इस बात पर चिन्तन कर चुके हैं कि प्रतिरक्षा संगठन को किन तरीक़ों से सशक्त और इस योग्य बनाया जा सकता है कि देश की बाहरी सुरक्षा के प्रति वह अपना कर्त्तव्य सफलता से पूरा कर सके।

सैनिक हेडक्वाटर या ज्वाइन्ट चीफ्स ऑफ़ स्टाफ़ कमेटी देश की सुरक्षा के प्रहरी हैं और इसलिए उनका प्राथमिक कर्त्तव्य है कि यदि विदेश नीति प्रतिरक्षा क्षमता से क़दम मिला कर नहीं चल रही है तो वे इस बारे में सरकार को स्पष्ट चेतावनी दें। सन् ६२ के पूर्व के दशक में सैनिक हेडक्वाटर अपने इस उत्तरदायित्व को पूर्ण न करने का अपराधी है।

उत्तरी सीमान्त पर घुमड़ते हुए संकट के बादलों के प्रति सैनिक हेडक्वाटर पहली बार १६६० में सचेत हुआ था लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। उस वर्ष सैनिक हेडक्वाटर ने, परिस्थितियों का पर्यवेक्षण करके यह अनुमान लगाया था कि सम्भावित चीनी आक्रमण १६६३ में होगा। आक्रमण एक वर्ष पहले ही हो गया।

जनवरी, १६६२ के बाद से सरकार ने सैनिक हेडक्वार्टर से यह कहना शुरू किया कि वह आगे बढ़ कर शत्रु को रोके और सैनिक हेडक्वाटर ने यह आपत्ति प्रगट करनी शुरू की कि प्राप्य साधनों को देखते हुए ऐसा नहीं किया जा सकता।

और इस प्रकार मनोवैज्ञानिक रूप से हताश और साधनाभाव की चिन्ता से ग्रस्त भारतीय सेना सन् ६२ की पतझड़ में शत्रु का सामना करने के लिए युद्धस्थल में उतरी।

फिर भी इस बात में कोई सन्देह नहीं कि यदि हम युद्ध के पहले के बारह वर्षों में मिलने वाली चेतावनियों की ओर ध्यान देते और सारी शक्ति लगाकर २,६०० मील लम्बी सरहद पर अपनी प्रतिरक्षा व्यवस्था को संगठित करते तथा उस क्षेत्र की संभार समस्याओं को हल करते तो हम सन्, ६२ में ज्यादा अच्छी तरह अपनी रक्षा कर पाते। हमें चीनी आक्रमण का पूर्व ज्ञान होता और हम सैनिक तथा राजनयिक दोनों दृष्टिकोणों से उससे ज्यादा सफलता पूर्वक निवट पाते।

× × ×

आक्रमण से तीन महीने पहले, जुलाई १९६२ के ,सेमिनार नामक पत्र में जनरल थिमैया (जो१९६१ तक सेना प्रमुख थे) ने स्वीकार किया है—

> "जहाँ तक पाकिस्तान का प्रश्न है, मैं युद्ध सम्भव समझता हूँ लेकिन चीन के बारे में मैं यही बात नहीं कहूँगा। एक सैनिक की हैसियत से मैं इस बात को सोच भी नहीं सकता कि भारत अकेला चीन के साथ युद्ध कर सकता है। सोवियत रूस की पूरी सहायता के कारण सैनिक संख्या, साधन और हवाई क्षमता के दृष्टि कोण से चीन की शक्ति हमसे सौगुनी है और इस लिए निकट भविष्य में हम चीन से मोर्चा लेने की बात सोच भी नहीं सकते। देश की रक्षा का भार आज राजनैतिकों और राजनयिकों पर ही है।"

स्पष्टतः सेना प्रमुख की हैसियत से भी थिमैया के यही विचार थे जो उन्होंने रक्षा मंत्री को प्रस्तुत किये थे। लेकिन मेनन को यह परामर्श देना अनावश्यक था क्योंकि सरकार को यह विश्वास था कि चीन कभी भारत पर आक्रमण नहीं करेगा।

इस स्वयं सिद्ध सत्य को व्यक्त करने के लिए किसी जनरल की आवश्यकता नहीं थी। सोवियत सहायता के बिना भी चीन की सैनिक शक्ति भारत से कहीं ज्यादा थी। आज जब चीन-पाक गठबन्धन ने एक ठोस असलियत का रूप ले लिया है तो चीन या पाकिस्तान के साथ किसी भावी संघर्ष में हमें दो मोर्चों पर लड़ना होगा। इसलिए यह बात शीशे की तरह साफ है कि हमारी सेना इतने बड़े संकट से नहीं निवट सकती थी और इसलिए आज देश की सुरक्षा व्यवस्था को राजनैतिक तथा राजनयिक समर्थन देना आवश्यक है।

यदि हम अपने प्रिय भ्रमों को सीने से लगाये न बैठे रहते तो परिस्थिति की असलियत हममें यह विवेक जाग्रत कर देती कि अपनी सैनिक क्षमता को राजनयिक युक्तियों से और सशक्त बना लें। हमख्याल देशों के साथ मिलकर

सामूहिक सुरक्षा का एक ठोस व्यूह बनाया जा सकता था। ऐसी विदेश नीति आत्म रक्षा और राष्ट्रीय हित पर आधारित होती जैसा कि हर देश की विदेश नीति का वास्तव में होना चाहिए।

सारे ससार, विशेषत पड़ोसी देशो मे चीन के प्रति भय तथा अप्रियता की भावनाएं बराबर बढ़ती जा रही हैं। अत पूर्वी एशिया तथा शेष ससार के कई देश ऐसे हैं जो अपने हित, अपने आदर्शों और अपनी सुरक्षा के दृष्टिकोण से मूलत इस बात मे गहरी दिलचस्पी रखते हैं कि किसी भी तरह साम्यवादी सकट का दमन हो। भारत इसलिए अकेला नही है।

ताइवान, थाइलैंड, इंडोनेसिया, मलेशिया, सिंगापुर, फिलिपीन, लका, दक्षिण वियतनाम, दक्षिण कोरिया, यहां तक कि बर्मा और कम्बोडिया—सभी इस भय से आक्रान्त हैं कि पूर्वी एशिया की शांति को साम्यवादी चीन से खतरा है। वास्तव मे इस फेहरिस्त मे जापान और आस्ट्रेलिया के नाम भी शामिल किये जा सकते हैं।

सन् ६२ मे भारत पर चीन के आक्रमण से इन सब देशो को चेतावनी मिल गयी थी और अमरीका के इस विश्वास को पुष्टि हुई थी कि चीन से विश्व शांति को स्थायी खतरा है।

अत यदि भारत की तरह एक विशाल एशियाई राष्ट्र चीन के खिलाफ़ एक ठोस प्रतिरक्षा व्यवस्था सगठित करने का बीड़ा उठायेगा तो शेष एशियाई देश (जिनके नाम ऊपर गिनाये गये हैं) उत्साहपूर्वक इस कठिन कार्य मे उसका हाथ बटायेंगे। वास्तव में, दक्षिण पूर्वी एशिया मे अमरीका का यही उद्देश्य रहा है।

सन् १६५० के आस-पास स्वर्गीय जॉन फ़ॉस्टर डलेस यही विचार प्रचलित करने का प्रयत्न कर रहे थे। बाद मे, प्रेसिडेंट केनेडी और एडलाई स्टीवेंसन ने भी इस प्रस्ताव की पैरवी की थी कि चीन के विस्तारवाद के पंजा को काटने के लिए भारत और जापान मिलकर एक अभियान का नेतृत्व करें।

वाशिंगटन के दृष्टिकोण से पूर्वी एशिया मे साम्यवादी चीन को मात देने के लिए सबसे आदर्श चाल यह थी कि भारत और जापान जैसी लोकतत्र शक्तियाँ और उस क्षेत्र के स्वाभाविक नेता दक्षिण पूर्वी एशिया की सामूहिक सुरक्षा के लिए पहल करें।

श्री नेहरू के ऐसा करने से इन्कार करने के कारण अमरीका का यह उद्देश्य पूरा नही हो सका। उसके बाद अमरीका ने यह प्रयत्न किया कि चीन के चारो तरफ़ के छोटे-छोटे देशो की सरकारो को अपना प्रश्रय और समर्थन देकर खड़ा करे। लेकिन यह नीति बुरी तरह से असफल रही है।

इसलिए अमरीका का स्टेट डिपार्टमेंट आज फिर अपनी पहले की आदर्श नीति को अपना रहा है, खास तौर पर इसलिए कि उसे विश्वास है कि १९६२ की हार के बाद भारत उसकी इस विचारधारा की तरफ झुक गया है।

१९६१ में न्यूयार्क में मुझसे हुई एक मुलाकात में एडलाई स्टीवेंसन ने अधीरता से कहा था : "अपने नेहरू से कह दीजिएगा कि दक्षिण पूर्वी एशिया में हम उनकी लड़ाइयाँ लड़ रहे हैं। उन्हें खुद होश होना चाहिए कि उनके देश का हित किस बात में है।" संयुक्त राष्ट्र संघ में अमरीका के दूत, स्टीवेंसन ने फिर व्याख्या की इस नीति की कि पूर्वी एशिया में चीनी विस्तारवाद की रोकथाम करने के लिए एशिया के दो महानतम देश भारत और जापान, एक आपसी सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को संगठित करने में पहल करें।

दक्षिण वियतनाम के तत्कालीन राष्ट्रपति एन्गोदिन दियेम ने १९५६ में मुझ से कहा था कि वे भारत को दक्षिण पूर्वी एशिया के असाम्यवादी देशों का स्वाभाविक नेता मानते हैं और जहाँ तक उनका प्रश्न है, वे इस अभियान में श्री नेहरू का नेतृत्व मानने को तैयार हैं।

बर्मा एक ऐसा सतर्क रहने वाला तटस्थ देश है जो किसी भी खतरनाक पड़ोसी से बिगाड़ नहीं करना चाहता। जून के महीने में रंगून में हुए चीन विरोधी प्रदर्शनों तथा पेकिंग में हुए बर्मा विरोधी प्रदर्शनों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि बर्मा को अपने आक्रमणशील पड़ोसी से भय है और उसके प्रति अविश्वास है। अपनी बिलिंगसगेट राजनयिक शैली के अनुसार पेकिंग ने राष्ट्रपति ने विन को बुरा भला कहा है और यह धमकी दी है कि उनके शासन का तख्ता उलटवा देगा। वास्तव में चीन ने बर्मा के साम्यवादियों को विप्लव करने के लिए उकसाया भी है।

कम्बोडिया साम्यवादी चीन के इतना निकट है कि वह विवश है पेकिंग पक्षी तटस्थ देश बने रहने के लिए। फिर भी राजकुमार सिंहानुक ने इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि उनका नन्हा-सा राज्य स्नेह के नहीं विवशता के सूत्रों से चीन से बँधा हुआ है।

उत्तर वियतनाम तथा उत्तर कोरिया राजनैतिक आदर्शों के कारण चीन के मित्र हैं लेकिन उत्तर वियतनाम के लोगों में चीन के प्रति एक ऐतिहासिक और परम्परागत घृणा न सही तो विद्वेष अवश्य है।

जहाँ तक साम्यवादी चीन की विस्तारवादी नीति की रोकथाम करने का प्रश्न है, दक्षिण तथा पूर्वी एशिया के बाकी देशों का हित भारत के हित से सम्बद्ध है।

इस नयी परिस्थिति को देखते हुए कि आज रूस और अमरीका, अधिकाधिक, समान दृष्टि से विश्व शांति के प्रश्न को ही नहीं बल्कि साम्यवादी चीन

द्वारा विश्वशांति को पहुँचने वाले खतरे के मसले तथा अपनी अन्दरा... दिलचस्पियों का देख रहे हैं, दक्षिण पूर्वी एशिया के इस प्रस्तावित स... सुरक्षा संगठन को इन दोनों देशों की सहायता मिलना स्पष्ट है।

सन् १९५० में शुरू होने वाले दशक के प्रारम्भ में पश्चिमी तथा (साम्यवादी) गुटों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ध्रुवण हुआ था जिसका नेतृत्व, क्रमशः, अमरीका तथा रूस ने किया था। सन् १९६० के दशक के मध्य में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ने एक नया रूप ले लिया है। आज चीन अणु-शक्ति बन जाने के कारण संघर्ष का एक त्रिकोण बन गया है जिसमें अमरीका और रूस का समान हित इस बात में है कि इस नई शक्ति को किसी भी तरह कुचला जाये।

इस त्रिकोणीय संघर्ष को देखते हुए अपक्षवाद की नीति निरर्थक हो जाती है जब तक कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इस नीति को उचित रूप से फिर से ढाला न जाये। आज भारत के लिए अपक्षवाद का मतलब होना चाहिए अमरीका और रूस के बीच एक समदूरस्थ कड़ी बनना, दोनों से समदूरस्थ अलगाव नहीं।

यदि रूस और अमरीका जैसे दो सशक्त प्रतिद्वन्द्वी एक-दूसरे से इतने निकट आ सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में वे एकमत हों—जिसका निकटतम उदाहरण था संयुक्त राष्ट्र में अरब इज़राइल युद्ध के बारे में दोनों का क्रियात्मक दृष्टिकोण—तो निश्चितरूप से भारत, बिना किसी एक से नाता तोड़े, दोनों के निकट आ सकता है और एक आपसी शत्रु को कुचलने के लिए वाशिंगटन-मॉस्को-नयी दिल्ली मित्र संघ की स्थापना कर सकता है।

दक्षिण पूर्वी एशिया में चीन विरोधी संगठन की स्थापना करने के लिए भारत की किसी भी पहल का अमरीका स्वागत करेगा। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि रूस भी ऐसी किसी चाल का समर्थन करेगा।

यदि केवल वे लोग, जो भारत की नियति के निर्माता हैं, साहस और विवेक से काम लें और चतुरता से चाल चलें तो भारत अन्तर्राष्ट्रीय प्रांगण में अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा फिर से स्थापित कर सकता है और इससे उसे विशेष आर्थिक, राजनैतिक और सैनिक लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

ऐसे संसार में जिसमें एक-दूसरे पर निर्भर होना एक यथार्थवादी तथ्य है, किसी दूसरे देश से गठबन्धन को कुंठित कर देने वाली निर्भरता समझना एक दकियानूसी और तर्कहीन विचारधारा है। चीन से ... सुरक्षा को जो स्थायी खतरा है उसका सामना हम केवल तभी कर ... जब दूसरों के साथ मिल कर सामूहिक सुरक्षा का एक ठोस ... । हमारे नीति निर्माताओं को यह स्पष्ट सत्य समझने में दे... हिए।

यदि वक्त की माँगों को पूरा करने के लिए सोवियत रूस मार्क्सवादी सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या कर सकता है तो भारत की अपक्षवादी नीति भी जो सन् १६५० को देखकर रची गई थी, १६६७ की बदली हुई स्थिति को देखकर निश्चित रूप से परिवर्तित की जा सकती है।

भारत को छोड़कर मुक्त राष्ट्रों के गुट में हर देश के लिए अपक्षवाद की नीति मात्र एक ऐसा साधन है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यावहारिक रूप से, अपने-अपने हितों को आगे बढ़ाया जा सकता है। ऐसा लगता है कि केवल भारत के लिए ही अपक्षवाद एक रूढ़ सिद्धान्त है; किसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन नहीं, स्वयं एक उद्देश्य है।

लेकिन जहाँ तक भारत का भी प्रश्न है, अपक्षवाद की नीति मूलतः अपने हितों तथा आत्म-रक्षा को देखते हुए ही अपनायी गयी थी। आजादी के प्रारम्भिक वर्षों में भारत का हित इसी में था कि खतरनाक अन्तर्राष्ट्रीय उलझनों से दूर रहकर एकाग्र भाव से आर्थिक विकास और प्रगति के काम में लग जायें।

मिस्र के राष्ट्रपति नासिर के लिए अपक्षवाद की नीति का केवल यही उपयोग है कि वह उनकी विदेश नीति के मूल तत्वों की पुष्टि करती है—यह नीति अरब राष्ट्रों के इस उद्देश्य में केन्द्रित है कि इजराइल को पूर्णतः नष्ट कर दिया जाये; यह बात अलग है कि नासिर की यह नीति जून १६६७ में बुरी तरह विफल हुई। संयुक्त अरब जनतंत्र की प्रतिरक्षा क्षमता इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए संगठित की गयी थी। पाकिस्तान की सैनिक नीति पूर्णतः भारत आधारित है और यह उसकी भारत आधारित विदेश नीति के अनुकूल है।

अब इस बात में विलम्ब नहीं करना चाहिए कि हम अपनी विदेश नीति को इस तरह लचीला बना लें कि वह हमारी सुरक्षा और अस्तित्व के उद्देश्य को पूरा करने का एक सफल साधन बन जाये।

सबसे ज्यादा हमें इस बात को पूरी तरह समझ लेना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की सफलता पारस्परिक आदान-प्रदान पर निर्भर है। हम किसी देश से जो कुछ चाहते हैं उसके बदले में हम उसे क्या दे सकते हैं? 'मुसीबत के समय की मित्रता' का आदर्श केवल आपसी आदान-प्रदान से ही जीवित रखा जा सकता है।

और दुर्भाग्य की बात यह है कि अपक्षवाद की नीति का जिस रूप में हम व्यवहार करते रहे हैं, वह एसी गाड़ी, व्यावहारिक अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता के रास्ते में मात्र एक विघ्न सिद्ध हुई है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

परिशिष्ट-१

दिनांक २१ नवम्बर, १९६२ के चीन सरकार के वक्तव्य का न्यूचाइना न्यूज एजेन्सी द्वारा किया गया आधिकारिक अनुवाद :

गत दो वर्षों की अवधि में पहले चीन-भारत सीमा के पश्चिमी सेक्टर में और फिर पूर्वी सेक्टर में भारतीय सेना ने चीन भारत के बीच की वास्तविक नियंत्रण रेख का उल्लंघन किया, चीनी भूप्रदेश के किन्हीं इलाकों को हड़पा और आक्रमण करने के लिए चौकियाँ क़ायम कीं जिसके फलस्वरूप कई सीमा संघर्ष हुए।

लाभदायक सैनिक स्थितियों के बल पर और पूरी तैयारी करने के बाद अंत में भारतीय सेना ने २० अक्तूबर सन् १९६२ को पूरे सीमान्त पर स्थित चीनी सीमा रक्षकों पर विशाल सशस्त्र आक्रमण किया।

भारत द्वारा उकसाया हुआ यह सीमा-संघर्ष पिछले एक मास से चल रहा है। इन निरंतर उग्रतर होते हुए भारतीय अतिक्रमणों के खिलाफ़ चीन सरकार ने बराबर चेतावनियाँ दी हैं और इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि इसका नतीजा गंभीर हो सकता है। इस सारे दौर में चीनी सीमा रक्षकों ने आत्म-नियंत्रण और सहनशीलता से काम लिया है ताकि सीमा संघर्ष और अधिक भयानक रूप न लें।

लेकिन चीन का हर प्रयत्न विफल हुआ है और भारतीय अतिक्रमण बढ़ते चले गए हैं।

बात बर्दाश्त के बाहर हो जाने और अपयान के लिये कोई रास्ता न रहने के कारण चीनी सीमा रक्षकों के सामने इसके अलावा कोई रास्ता नहीं रह गया था कि आत्मरक्षा के लिए जमकर प्रत्याघात करें। इस विशाल सीमा-संघर्ष के फूट पड़ने के बाद भी चीन सरकार ने फ़ौरन इस बात के लिए प्रयत्न किया कि जितनी जल्दी हो सके, इस आग को बुझा दिया जाये।

वर्तमान सीमा-संघर्षों के शुरू होने के चार दिन बाद ही चौबीस अक्तूबर को चीन सरकार ने तीन ऐसे तर्कसंगत प्रस्ताव रखे जिनसे सीमा संघर्षों का

रोका जा सकता था समझौते की बात शुरू की जा सकती थी और भारत-चीन सीमा समस्या को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाया जा सकता था। ये तीन प्रस्ताव थे—

१ दोनो पक्ष इस बात पर फैसला करते हैं कि चीन-भारत सीमा समस्या को समझौते की वार्ता द्वारा शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाया जावे। इस समझौते के होने तक चीन सरकार यह आशा करती है कि भारत सरकार इस बात से सहमत होगी कि सारी भारत चीन सीमा पर दोनो पक्ष वास्तविक नियंत्रण रेखा को मान्यता दें और दोनो पक्षों की सेनाएँ इस रेखा से बीस किलो मीटर पीछे हट जावे।

२. यदि भारत सरकार उपरोक्त प्रस्ताव स्वीकार करती है तो चीन सरकार इस बात के लिए तैयार है कि दोनों पक्षो की राय लेकर अपने सीमा रक्षको को पूर्वी सेक्टर म वास्तविक नियंत्रण रेखा के उत्तर तक वापस हटा ले। साथ ही भारत और चीन दोनो यह वायदा करते हैं कि दोनो में से कोई सीमा के मध्य तथा पश्चिमी सेक्टरो म पारम्परिक रेखा का अर्थात् वास्तविक रेखा का उल्लंघन नहीं करेगा।

दोनो पक्षो की सेनाओ के संघर्ष को खत्म करने से सम्बन्धित बातो पर भारत और चीन सरकारो के अधिकारी आपस मे निर्णय लें।

३ चीन सरकार का यह मत है कि भारत चीन सीमा समस्या को मैत्री-पूर्ण ढग से सुलझाने के लिए यह अच्छा होगा कि दोनो देशो के प्रधानमन्त्री आपस म बातचीत करें। ऐसे किसी भी समय जिसे दोनो पक्ष उचित समझें चीन सरकार पेकिंग मे भारतीय प्रधानमन्त्री का स्वागत करने को तैयार है। यदि यह भारतीय सरकार के लिए असुविधाजनक हो तो चीनी प्रधानमन्त्री बातचीत के लिए दिल्ली आने को तैयार हैं।

जिस दिन भारत सरकार को ये तीन प्रस्ताव मिले उसी दिन उसने उन्हें रद्द कर दिया और उल्टे यह मांग की कि चीन सरकार ८ सितम्बर, १९६२ से पहले की सीमा का पुनर्स्थापित करने के लिए तैयार हो जिसका अर्थ यह हुआ कि भारत चीनी भू प्रदेश के विस्तृत इलाकों पर फिर से अधिकार जमा ले ताकि भारतीय सेना उन स्थितियो को फिर से प्राप्त कर ले जहाँ से चीनी सीमा रक्षकों पर किसी भी समय विशाल सशस्त्र आक्रमण किया जा सके।

१ नवम्बर को प्रधानमंत्री चाउ इन-लाइ को लिखे गये पत्र में प्रधानमंत्री नेहरू ने इससे भी अधिक अनुचित मांगें कीं जिनके अनुसार न सिर्फ चीन सरकार से यह मांग की गयी थी कि वह इस बात पर राजी हो जाय कि भारतीय सेना ८ सितम्बर से पहले की स्थितियों पर वापस लौट जाये बल्कि यह भी कि चीनी सीमा रक्षक न केवल अपनी ८ सितम्बर की स्थितियों को लौट जायें बल्कि पश्चिमी सेक्टर में ७ नवम्बर, १९५९ को स्थितियो तक अपयान करें।

यह स्थितियाँ भारत ने अपनी तरफ़ से ही तय कर ली थीं और इसका मतलब यह था कि चीन अपने भू-प्रदेश का ६ हज़ार वर्गमील इलाक़ा भारत को दे दे ।

इसी बीच भारत सरकार ने विशाल अमरीकी सैनिक सहायता के बल पर फिर से भारत-चीन सीमा के पश्चिमी और पूर्वी सेक्टरों में ज़ोरदार आक्रमण किए ।

यह केवल संयोग की बात ही नहीं है कि भारत सरकार ने इस मामले में इतना अनुचित रुख अपनाया है । अपनी आन्तरिक और बाह्य नीतियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भारत सरकार काफ़ी समय से जानबूझ कर भारत-चीन सीमा समस्या को विवादग्रस्त रखे हुए है जिसके परिणामस्वरूप दोनों देश की सेनाएँ आपस में उलझी हुई हैं और भारत चीन सीमा पर बराबर एक तनाव रहा है ।

अनुकूल समय देख कर भारत सरकार ने इस स्थिति का फ़ायदा उठाया है, सशस्त्र आक्रमण करने के लिए और भारत की सीमा पर संघर्ष उकसाने के लिए । या उसने परिस्थिति से लाभ उठाकर चीन के विरुद्ध शीत युद्ध क़ायम रखा है ।

कई वर्षों के अनुभव से यह स्पष्ट है कि भारत सरकार ने इस बात के लिए हर सम्भव प्रयत्न किया है कि भारत-चीन सीमा समस्या को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के लिए चीन सरकार की हर कोशिश को विफल करे । भारत सरकार की यह नीति चीन तथा भारत की जनता के मूल हितों और सारे संसार के लोगों की इच्छाओं के विरुद्ध है और केवल साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति करती है ।

चीन सरकार के यह तीनों प्रस्ताव पूर्णतः उचित और तर्कसंगत हैं । केवल इन्हीं प्रस्तावों से सीमा संघर्षों को खत्म किया जा सकता है, सीमा पर शान्ति क़ायम की जा सकती है और भारत-चीन सीमा समस्या को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाया जा सकता है ।

चीन सरकार अपने तीन प्रस्तावों पर अटल है ।

लेकिन भारत सरकार अब तक इन प्रस्तावों को ठुकराती रही है और सीमा संघर्षों को बढ़ाती रही है जिसके कारण भारत-चीन सीमा समस्या बराबर बिगड़ती जा रही है । इस स्थिति को उलटने के लिए चीन सरकार ने अपनी तरफ़ से यह फ़ैसला किया है कि इन तीन प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के लिए स्वयं ही पहला कदम उठाये ।

अतः चीन सरकार यह घोषणा करती है कि :

(१) इस वक्तव्य के प्रकाशित होने के अगले दिन से अर्थात् २२ नवम्बर के ००'०० बजे से पूरी भारत-चीन सीमा पर चीनी सीमा रक्षक युद्ध विराम कर देंगे ।

११ यह भी प्रगट हुआ है कि प्रशिक्षण के मुख्य पहलू के साथ-साथ पर्वतीय युद्ध के बारे में प्रवर कमाण्डरों का दृष्टिकोण दुरुस्त करना आवश्यक है।

१२ लेकिन उचित नेतृत्व के बिना मात्र उत्तम प्रशिक्षण से कोई लाभ नहीं होगा। अतः सबसे अधिक इस समय नेतृत्व को शिक्षा देने की आवश्यकता है।

सैनिक उपकरणों की कमी

१३ दूसरा प्रश्न था हमारे सैनिक उपकरणों के बारे में। जाँच से इस बात की पुष्टी हुई है कि प्रशिक्षण तथा युद्ध दोनों के लिए उपकरणों की व्यापक कमी थी। लेकिन हमेशा ऐसा नहीं होता था कि कोई उपकरण विशेष सेना के पास देश भर में किसी स्थान पर हो ही नहीं। सबसे बड़ी कठिनाई अक्सर इस बात की होती थी कि यद्यपि उपकरणों का मैदान के अन्तिम स्थान तक या उसके आगे भी पहुँचाया जा सकता था लेकिन उन्हें किसी भी यातायात से (विमान के, पशुओं के या कुलियों के द्वारा) युद्ध प्रस्त अग्रिम विरचनाओं तक ठीक समय से पहुँचाना कठिन था। हमारे समस्या इन दो कारणों से और भी बिगड़ गयी थी

(क) बहुत तेज रफ्तार से जवानों को समतल प्रदेश से ऊँचे पहाड़ी इलाके में पहुँचाना, और

(ख) ठीक तरह से बनी सड़कों और अन्य सचार साधनों की कमी।

१४ परिस्थिति इसलिए और भी बिगड़ गयी थी कि वाहनों की कमी थी और जो वाहन थे भी उनमें से अधिकतर बहुत पुराने थे और ऊँचे, पहाड़ी इलाकों मे चलने के लिए बेकार थे।

१५. अतः सक्षेप में, यद्यपि इस जाँच से यह पता लगा है कि उपकरणों की कमी थी फिर भी वे चीनियों से युद्ध करने के लिए कारगर थे और शत्रु के उपकरणों की तुलना में बुरे नहीं थे। ये यथोचित राइफिल ठंडी जलवायु में युद्ध करने के लिए ज्यादा कारगर हो सकते थे, अब उन्हें काम में लाया जाना शुरू किया जा रहा है। जाँच ने इस बात पर जोर दिया है कि विशेषत पहाड़ी इलाकों मे युद्ध करने के लिए उपयुक्त उपकरणों की कमी को पूरा किया जाय लेकिन इससे भी ज्यादा इस बात की आवश्यकता बतायी है कि ऐसे सचार साधन प्राप्त किये जायें जिनसे उपकरणों को सेना के पास ठीक स्थान पर ठीक समय पहुँचाया जा सके। इस दिशा में काम शुरू किया जा चुका है और उसमे तेजी से प्रगति हो ।

कमान्ड व्यवस्था

१६ तीसरा प्रश्न है सेना में कमान्ड व्यवस्था का। जाँच से यह पता चला है कि कमान्ड व्यवस्था और सत्ता में मूलत कोई खराबी नहीं है यदि

हर स्तर पर उसे उचित रूप से कार्यान्वित किया जाये। फिर भी इस बात की आवश्यकता है कि हर स्तर पर जिम्मेदारियों को महसूस किया जाये और एक दूसरे में विश्वास रख कर काम किया जाये। यह पता चला है कि युद्ध के समय कठिनाइयाँ केवल तभी पैदा होती थीं जब निश्चित कमान्ड शृंखला को भंग किया जाता था। जल्दबाजी और पहले से पर्याप्त योजना न बनाने के कारण ही कमान्ड शृंखला भंग होती थी।

१७. जाँच से यह भी पता चला है कि प्रवर सैनिक अधिकारी इस सीमा तक सामरिक बातों में दखल देते थे कि जवानों को किन विशेष कामों के लिए तैनात किया जाये। आवश्यकता पड़ने पर स्थानीय कमान्डरों को स्वयं ही निश्चय लेने चाहिए और युद्ध सम्बन्धी छोटी-छोटी बातें उन्हीं पर छोड़ देनी चाहिए थीं।

सैनिकों का स्वास्थ्य

१८. चौथा प्रश्न है सैनिकों के स्वास्थ्य और उनकी शारीरिक क्षमता का। यह एक स्वयं सिद्ध सत्य है कि जो सेना किसी विशेष जलवायु की आदी नहीं है वह उससे हीन है जो उसकी आदी है। इसके बावजूद जाँच से यह पता चला है कि हमारे अफ़सरों और जवानों ने उस कठिन जलवायु को अच्छी तरह सहा हालांकि उनमें से अधिकतर एकाएक मैदानी इलाकों से ठंडे पहाड़ी प्रदेश में पहुँचाये गये थे। अतः हमारी सेना अपने सामान्य उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए शारीरिक रूप से पूर्णतः योग्य थी लेकिन वह उन ऊँचाइयों की जलवायु की आदी नहीं थी जिन पर उसे लड़ना पड़ा था। जहाँ सेना जलवायु की आदी हो गयी थी (जैसे कि लद्दाख में) वहाँ प्रदेश की ऊँचाई के कारण कोई कठिनाई नहीं पैदा हुई थी। अधेड़ आयु के अफ़सरों का स्वास्थ्य स्तर गिर गया था। इस कमी को अब ठीक किया जा रहा है। अवर अधिकारियों तथा जवानों का स्वास्थ्य अच्छा था और अब ज्यादा अच्छा हो रहा है।

कमान्डरों की योग्यता

१९. पांचवां प्रश्न था कि हर स्तर पर हमारे कमान्डरों में अपने नीचे लड़ने वाले जवानों को प्रभावित करने की कितनी योग्यता है। यह पता चला है कि, सामान्यतः, अवर अधिकारियों में यह योग्यता काफ़ी सीमा तक थी। यूनिटों में अच्छे कमांडिंग अफ़सर भी थे और मामूली भी। अच्छे और साधारण अफ़सरों का अनुपात वही था जो गत महायुद्ध के समय सेना में था। ब्रिगेडों में एक-दो को छोड़ कर, कमांडिंग अफ़सरों में अपने उत्तरदायित्व पूरा करने की पर्याप्त क्षमता थी। कमियाँ ऊँचे अफ़सरों में अधिक पायी गयीं हैं। यह भी पता चला

है कि अधिकतर प्रवर अधिकारी पर्याप्त रूप से अपने नीचे के उन कमाण्डरों की पहल क्षमता पर भरोसा नहीं करते थे केवल जिन्हें ही भूप्रदेश का और अपने नीचे लडन वाले जवानो की स्थानीय स्थिति का पूरा ज्ञान था।

अन्य पहलुओं का निरीक्षण

२० उपरोक्त बातो के अतिरिक्त जाँच समिति ने युद्ध से सम्बन्धित अन्य महत्त्वपूर्ण पहलुओ का भी निरीक्षण किया है और मैं ससद को इनके बारे मे भी बताना चाहता हूँ। ये पहलू हैं—

(क) हमारी आसूचना व्यवस्था

(ख) हमारी स्टाफ कार्यप्रणाली

(ग) उच्च स्तर पर युद्ध निर्देशन

२१ आसूचना व्यवस्था और सगठन के बारे मे कुछ भी प्रगट करना प्रत्यक्षत अनुचित होगा। यू यह सर्वविदित है कि सैनिक हेडक्वार्टर मे एक आसूचना निदेशालय है जिसका सचालन सैनिक आसूचना डायरेक्टर करते हैं।

२२. जाँच स यह पता चला है कि आसूचना सकलन का काय सन्तोषजनक नहीं था। आसूचना प्राप्त करन का काम बहुत सुस्ती से होता था और रिपोर्टें अस्पष्ट होती थी।

२३ आसूचना का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू है उसका सकलन और मूल्याकन यह प्रत्यक्ष है कि आसूचनाओं के अस्पष्ट होने के कारण उनका मूल्यांकन सही नही हो पाता था। इसके परिणामस्वरूप चीनी तैयारी का पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका था। शत्रु के पुराने सैनिक फैलाव सदभ मे उसकी नयी तैयारियो का निरीक्षण करने का कोई प्रयत्न नही किया गया था। अत मोर्चे पर तैनात विरचनाओं को इस बात का बहुत कम ज्ञान था कि शत्रु के पास नये सैनिक दस्ते हैं या पुराने दस्ते ही नयी स्थितियो पर तैनात हैं।

२४ तीसरा महत्वपूर्ण पहलू है आसूचना का प्रसार। जाँच से यह बात स्पष्ट हुई है कि यदि आसूचना से पूरा लाभ उठाना है तो उचित रूप से सपादन और मूल्याकन करके उसे जल्द से जल्द मोर्चे पर स्थित विरचनाओं तक पहुँचाना आवश्यक है।

२५ इसमे कोई सन्देह नहीं कि आसूचना व्यवस्था मे विशेष परिवर्तन करना आवश्यक है। इस दिशा म पिछले छ महीनो म काफी काम किया जा चुका है। लेकिन आसूचना व्यवस्था म परिवर्तन करना काफी पेचीदा और लम्बा काम है और चूकि यह काम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है इसलिए मैं स्वयं इसकी ओर व्यक्तिगत ध्यान दे रहा हूँ।

स्टाफ़ कार्य प्रणाली

२६. अब लीजिए स्टाफ़ कार्य प्रणाली । हर स्तर पर स्टाफ़ कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में स्पष्ट कार्य विधियाँ हैं । फिर भी जाँच से यह पता चला है कि जनरल स्टाफ कमाण्ड हेडक्वार्टरों तथा उसके नीचे की यूनिटों में रणयोजना, संचार तन्त्र और सर्विस हेडक्वार्टरों के आपसी सम्पर्क की ओर पहले से कहीं अधिक ध्यान देना होगा । इस प्रकार एक महत्त्वपूर्ण सबक़ यह मिला है कि भविष्य में हमारी सैनिक तैयारी में जनरल स्टाफ़ की कार्य योग्यता तथा उसकी पूर्व योजनाओं के ठोसपन का काफ़ी हाथ होगा ।

युद्ध निर्देशन

२६. इसके बाद लीजिए उच्च स्तर पर युद्ध निर्देशन का पहलू । सेना सरकार का अस्त्र है और इसलिए बड़ी से बड़ी तथा सैन्य साधनों से पूरी तरह युक्त सेना को भी सरकार द्वारा नीति सम्बन्धी निर्देश मिलना आवश्यक है । यह नीति निर्देश सेना के आकार तथा उसकी साधना क्षमता को देख कर ही देने चाहिए । सेना का आकार बढ़ाने तथा साधनों और उपकरणों को अच्छा करने के लिये धन की आवश्यकता ही नहीं होती बल्कि सरकारी नीतियों की भी ।

पिछले वर्ष की पराजय

२८. हमारी सेना को जो पराजय सहनी पड़ी वह उपरोक्त कई कारणों तथा कमजोरियों की वजह से थी । इस जाँच ने विस्तार से इन कारणों का अध्ययन किया है लेकिन साथ ही इस बात की भी पुष्टि की है कि आक्रमण इतनी तेज़ी से और इतने दूरस्थ इलाकों में हुआ था कि भारतीय सेना उसके लिए तैयार नहीं थी । पिछले वर्ष दो महीने से भी कम की अवधि में हमारे लगभग २४,००० सैनिक वास्तव में युद्ध में उलझे थे । इनमें से उन सैनिकों ने अपनी वीरता का अच्छा परिचय दिया जो लद्दाख में लड़े यद्यपि शत्रु की सैनिक संख्या कहीं अधिक थी । धुर पूर्वी सेक्टर में, शत्रु की सैनिक संख्या बहुत अधिक होने के बावजूद, यद्यपि हमारी सेना को वालोंग से अपयान करना पड़ा फिर भी वे अनुशासित रूप से हटे और उन्होंने शत्रु को काफी क्षति पहुँचायी । केवल कामेंग सेक्टर में ही सेना को लगातार करारी हार सहनी पड़ी । इस सेक्टर की लड़ाइयाँ हमारे दूरस्थ सीमान्तर पर लड़ी गयीं थी और हमारी सेना को ऐसी दुर्गम ऊँचाइयों पर शत्रु से मोर्चा लेना पड़ा था जिनसे वह परिचित नहीं थी । इसके अलावा भौगोलिक दृष्टिकोण से यह इलाका हमारे प्रतिकूल था जबकि शत्रु के लिए वहाँ लड़ना सुविधाजनक था । लेकिन यह प्रारम्भिक हार लड़ाई की उलट फेर का स्वभाविक अंग है—महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अन्त में जीत किस की होती है ।

चौथा डिवीजन

२९ इस रिपोर्ट का अन्त करने से पहले मैं उस प्रसिद्ध चौथे डिवीजन के बारे में कुछ शब्द कहना चाहूँगा जिसने इस युद्ध में भाग लिया था। यह कहा जाता है कि इस पराजय के कारण इस प्रसिद्ध डिवीजन को अपनी ख्याति का बलिदान देना पड़ा। इससे भी ज्यादा दुखद बात यह है कि इस युद्ध में यह डिवीजन केवल नाम का ही 'चौथा डिवीजन' था क्योंकि यह अपनी मूल विरचनाओं के साथ युद्ध में नहीं लड़ा था। विभिन्न विरचनाओं के सैनिकों को ऐन मौके पर मोर्चे पर पहुँचाया गया था और वह 'चौथे डिवीजन' के नाम से लड़े थे जबकि इसकी मूल विरचनाएँ और जगह स्थित थीं। मुझे विश्वास है, और मुझे आशा है कि संसद मुझसे इस बात में सहमत होगी, कि यदि भविष्य में देश पर आक्रमण हुआ तो यह प्रसिद्ध चौथा डिवीजन निश्चित रूप से अनेक युद्ध जीतेगा।

३० अन्त में मैं यह कहना चाहता हूँ कि आवश्यक सुधार कार्य आरम्भ करने के लिए हमने इस रिपोर्ट के प्रकाशित होने का इन्तजार नहीं किया। जाँच शुरू होने के साथ ही सुधार कार्य भी शुरू हो गया था—संसद को याद होगा कि मैंने उसी समय संसद को इस बात की सूचना दे दी थी।

३१ सेला और बोमदी ला में हमारी पराजय निश्चित रूप से भीषण थी लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि अक्सर अधिक शक्तिशाली देशों को भी युद्ध के शुरू में हार सहनी पड़ती है। आक्रमणकारी शुरू में अधिक दृढ़ स्थिति में होता है विशेषतः जब आक्रमण तीव्र गति से किया गया हो और शत्रु उसके लिए पूरी तरह तैयार हो। आज हम सजग हैं और पूरी तरह अपने को तैयार करने के कार्य में लगे हुए हैं। इस रिपोर्ट से न केवल हमें अपनी कमजोरियों तथा गलतियों का पता चला है बल्कि अपनी सुरक्षा सम्बन्धी तत्परता को सगठित करने तथा युद्ध निर्देश को कसने का अवसर भी मिला है।

परिशिष्ट-३

१० से १२ दिसम्बर सन् १९६२ को कोलम्बो में हुए ६ अपक्ष राष्ट्रों के सम्मेलन के प्रस्ताव:

१. सम्मेलन का यह मत है कि वर्तमान वास्तविक युद्ध विराम की अवधि ऐसा सूक्ष्म समय है जब भारत-चीन संघर्ष के बारे में, शान्ति पूर्ण समझौते की बात शुरू की जा सकती है।

२. (क) पश्चिमी सेक्टर के बारे में, सम्मेलन चीन सरकार से यह अपील करना चाहता है कि २१ और २८ नवम्बर सन् १९६२ को प्रधान मंत्री चाउ इन-लाइ द्वारा प्रधान मंत्री नेहरू को लिखे गये पत्रों में दिये गये प्रस्तावों के अनुसार वह अपनी सैनिक चौकियां २० किलोमीटर पीछे हटा लें।

(ख) सम्मेलन भारत सरकार से यह अपील करता है कि वह अपनी वर्त्तमान सैनिक-चौकियाँ यथास्थान रखे।

(ग) सीमा समस्या के बारे में अन्तिम निर्णय होने तक चीनी सैनिक अपयान के कारण खाली हुआ इलाका विसैन्यित इलाक़ा माना जायेगा और उसका प्रशासन दोनों पक्षों द्वारा स्वीकृत प्रशासकीय चौकियाँ करेंगी। इसका कोई असर इस प्रदेश में भारत और चीन की पूर्व उपस्थिति के अधिकारों पर नहीं पड़ेगा।

३. पूर्वी सेक्टर के बारे में सम्मेलन का यह मत है कि दोनों सरकारों द्वारा मान्यता पाई हुई वास्तविक नियंत्रण रेखा क्रमशः उन दोनों के लिए उचित युद्ध-विराम रेखा होगी।

इस सेकटर के बाक़ी इलाकों के बारे में भविष्य में बात-चीत द्वारा फ़ैसला किया जा सकता है।

४. मध्य सेक्टर से सम्बन्धित समस्याओं के बारे में सम्मेलन का मत है कि उन्हें शक्ति का प्रयोग किए बग़ैर शान्ति पूर्ण ढंग से सुलझा लिया जायेगा।

५. सम्मेलन का विश्वास है कि युद्ध-विराम के कार्यान्वित होने के बाद इन प्रस्तावों से ऐसी शान्ति पूर्ण स्थिति पैदा हो जायेगी, जिसके वातावरण में

दोनों पक्षों के प्रतिनिधि युद्ध-विराम से पैदा होने वाली समस्याओं का समाधान में सफल हो सकें।

६ सम्मेलन यह बात स्पष्ट कर देना चाहता है कि इन प्रस्तावों के सम्बन्ध में दोनों सरकारों की सकारात्मक प्रतिक्रिया का अन्तिम सीमा-निर्धारण पर कोई आपत्तिजनक प्रभाव नहीं पड़ेगा।

छह राष्ट्रों के प्रस्तावों के पीछे मूल सिद्धान्त*

१ भारत-चीन सीमा झगड़े को दोनों सरकारों को शान्तिपूर्ण ढंग से तय कर लेना चाहिए।

२ छह राष्ट्रों के प्रस्तावों का उद्देश्य यह है कि वे ऐसा वातावरण पैदा कर दें जिससे भारत और चीन आत्म-सम्मान के साथ समझौते की बात कर सकें।

३ अपने प्रस्तावों पर विचार करते समय, छह राष्ट्रों ने २१ नवम्बर सन् १९६२ को चीन द्वारा उद्घोषित एक पक्षीय युद्ध-विराम और अपसरण का स्वागत किया है।

४ इन प्रस्तावों की रचना करते समय, छह राष्ट्रों ने निम्नलिखित सिद्धान्तों की ओर विशेष ध्यान दिया है।

(क) कि सैनिक कार्रवाई के द्वारा दोनों में से कोई पक्ष लाभ न उठा सके,

(ख) कि भारत और चीन के बीच समझौते की बात शुरू होने से पहले एक सुनिश्चित युद्ध विराम आवश्यक है,

(ग) कि युद्ध विराम से किसी भी पक्ष के सीमा सम्बन्धी दावों पर कोई निश्चित असर नहीं पड़ेगा।

(घ) कि सुनिश्चित युद्ध-विराम को कार्यान्वित करने के लिए दोनों में से किसी पक्ष से यह नहीं कहा जायेगा कि वे उन प्रदेशों से हटें जिनपर उनका सुनिश्चित अधिकार है या जिनपर उनका अविवाद प्रशासन रहा है।

(ङ) कि परिस्थितियों को देखते हुए यह आवश्यक नहीं होगा कि सुनिश्चित युद्ध-विराम स्थापित होने के परिणामस्वरूप एक विसैन्यित इलाके की भी स्थापना हो।

५ इन सिद्धान्तों पर विचार करने के बाद छह राष्ट्रों का यह मत है कि विवादग्रस्त भारत चीन सीमा के सब सेक्टरों के बारे में एक ही समाधान प्रस्तावित करना अनुचित है।

*यह प्रलेख कोलम्बो सम्मेलन के प्रतिनिधियों ने चीन सरकार को पेकिंग में दिया था।

६. पूर्वी सेक्टर के सम्बन्ध में :

(क) यह स्पष्ट है कि मैकमहॉन रेखा को वैध माना जाये या अवैध, वह दरअस्ल वास्तविक नियंत्रण रेखा है, जिसके उत्तर में चीन सरकार का एक छत्र प्रशासकीय नियंत्रण है और जिसके दक्षिण में विवाद ग्रस्त चे-डॉग और लौगंजू को छोड़कर, भारत सरकार का एकछत्र प्रशासकीय अधिकार है।

(ख) छह राष्ट्रों का यह मत है कि युद्ध विराम के लिए इस वास्तविक नियंत्रण रेखा को मान्यता देना उत्तम होगा।

(ग) यदि इस रेखा को मान्यता दी गयी तो भू प्रदेश की विशेषता के कारण अपने आप दोनों पक्षों की सेनाओं का आपस में भिड़ना असम्भव हो जायेगा और इसके परिणामस्वरूप विसैन्यित इलाक़े की स्थापना करना अनावश्यक होगा।

(घ) छह राष्ट्रों का यह मत है कि पूर्वी सेक्टर के विवादग्रस्त चे-डॉग और लौंगजू इलाकों के बारे में चीन और भारत फ़ौरन समझौते की बात-चीत शुरू कर दें। यह भी उचित होगा कि अन्तिम निर्णय होने के समय तक चे-डॉग के बारे में भी वही व्यवस्था की जाये जो लौगंजू के बारे में की जा चुकी है।

७. मध्य सेक्टर के बारे में ६ राष्ट्रों का यह मत है कि चूँकि इस सेक्टर में कोई सैनिक कार्रवाई नहीं हुई है और वुजे या बाराहोती को छोड़कर वास्तविक नियंत्रण रेखा के बारे में कोई झगड़ा नहीं है, इसलिए सीमा सम्बन्धि अन्तिम निर्णय होने तक यह उचित होगा कि,

(क) दोनों में से कोई पक्ष सैनिक कार्रवायी न करें।

(ख) दोनों पक्ष पूर्व स्थिति को मान्यता दें।

८. पश्चिमी सेक्टर में युद्ध विराम के बारे में, प्रस्तावों की रचना करते समय छह राष्ट्रों ने निम्नलिखित वास्तविक तथ्यों को ध्यान में रखा है :

(क) कि "७ नवम्बर, १९५९ को वास्तविक नियंत्रण रेखा" के अर्थ और उसकी स्थिति के बारे में भारत और चीन में मतभेद है;

(ख) कि जिस प्रारम्भिक रेखा पर चीन का दावा है उसके पश्चिम में भारत का एक छत्र प्रशासकीय नियंत्रण था और यह हो सकता है कि १९५९ के पहले समय-समय पर भारत ने उस रेखा से पूर्व की ओर गश्ती दस्ते भेजे हों;

(ग) कि १९५९ और १९६२ के बीच भारत ने उस रेखा के पूर्व में ४३ सैनिक चौकियाँ स्थापित कीं जिसे चीन पारम्परिक रेखा मानता है;

(घ) कि १६५६ से पहले चीन उस रेखा के पूर्व मे था जिसे वह पारम्परिक रेखा मानता है,

(ङ) कि १६५६ और ६५ के बीच चीन ने पश्चिम मे कुछ सैनिक-चौकियाँ स्थापित की, लेकिन यह उस रेखा के पूर्व मे थीं, जिसे वह पारम्परिक रेखा मानते हैं,

(च) कि चीन अपनी निकट की सैनिक कार्रवाईया के फलस्वरूप सन् १६६२ तक उस पारम्परिक रेखा तक पहुँच गया जिसे वह पारम्परिक रेखा मानते हैं,

(छ) कि चीन द्वारा मानी गयी पारम्परिक रेखा के पूर्व का प्रदेश निर्जन है और इसलिए यह सम्भव था कि दोनो मे से कोई पक्ष इस प्रदेश मे कोई वास्तविक प्रशासकीय नियंत्रण रख सके,

(ज) कि एकपक्षीय युद्धविराम की घोषणा के समय चीन और भारत की सेनाएँ उस रेखा पर एक-दूसरे से मोर्चा लिए हुए थी जिसे चीन पारम्परिक रेखा मानता है।

६ इन सारे तथ्यो को ध्यान मे रखकर, छः राष्ट्र प्रस्तावित करते हैं कि युद्ध-विराम के निम्नलिखित आधार होने चाहिए :

(क) कि पश्चिम सेक्टर मे प्रधान मंत्री चाउ इन लाइ के २१ नवम्बर, १६६२, के पत्र के अनुसार चीनी सेनाओ को अपयान करना चाहिए,

(ख) कि भारतीय सेना को यथास्थान रहना चाहिए अर्थात् चीन द्वारा दावा की हुई पारम्परिक रेखा पर स्थित रहना चाहिए,

(ग) कि सीमा सम्बन्धी झगडे के बारे मे अन्तिम निर्णय होने तक, विसैन्यित क्षेत्र का प्रशासन इस प्रकार होना चाहिए कि उसमे भारत तथा चीन दोनो का हाथ हो,

(ड) कि सीमा सम्बन्धी झगडे के बारे मे अन्तिम निर्णय होने तक, उक्त क्षेत्र का प्रशासन इस प्रकार हो कि वहाँ दोनो मे से किसी देश की सेना उपस्थित न रहे। अतः यह प्रस्तावित किया जाता है कि दोनो देशो की रजामन्दी से स्थापित प्रशासकीय चौकियाँ इस इलाके का प्रशासन करें।

कोलम्बो सम्मेलन के प्रतिनिधियों द्वारा भारत सरकार को १३ जनवरी, १६६३ को दिया हुआ स्पष्टीकरण।

भारत सरकार के निवेदन पर लंका, संयुक्त अरब तथा घाना के प्रतिनिधि मडलों ने कोलम्बो सम्मेलन के प्रस्तावो की धारा २, ३ और ४ का स्पष्टीकरण इस प्रकार दिया

पश्चिमी सेक्टर :

(क) चीन सरकार के २१ नवम्बर, १९६२ के वक्तव्य में प्रधान मंत्री चाउ इन-लाइ द्वारा प्रधानमंत्री नेहरू को प्रस्तावित सुझाव तथा २८ नवम्बर, १९६२ के प्रधानमंत्री चाउ इन-लाइ के पत्र के अनुसार कोलम्बो सम्मेलन ने भी यह प्रस्ताव रखा है कि चीनी सेनाएँ २० किलोमीटर पीछे हटें अर्थात् चीन सरकार द्वारा प्रसारित मानचित्र नम्बर ३ और ४ में दिखायी गई ७ नवम्बर की दोनों पक्षों के बीच की वास्तविक नियंत्रण रेखा से पीछे हटें।

(ख) भारत सरकार अपनी उन्हीं सैनिक चौकियों पर डटी रह सकती है जो उपधारा (क) के अनुसार उस रेखा पर या उस रेखा तक हैं।

(ग) चीनी सेना के अपयान द्वारा पैदा हुए २० किलोमीटर के विसैन्यित इलाके का प्रशासन दोनों पक्षों की प्रशासकीय चौकियों द्वारा होगा। कोलम्बो सम्मेलन के प्रस्तावों का यह एक सारभूत अंग है। उन चौकियों की स्थिति संख्या और संगठन के बारे में भारत तथा चीन की सरकारों के बीच समझौता होना आवश्यक है।

पूर्वी सेक्टर :

कोलम्बो सम्मेलन के प्रस्तावों के अनुसार भारतीय सेनाएँ, उन दो इलाकों को छोड़कर जिनके बारे में भारत तथा चीन सरकारों के बीच विवाद है, वास्तविक नियंत्रण रेखा अर्थात् मैकमहॉन रेखा के दक्षिण तक बढ़ सकती हैं। इसी प्रकार चीनी सेनाएँ उक्त दो इलाकों को छोड़कर, मैकमहॉन रेखा के उत्तर तक बढ़ सकती हैं। कोलम्बो सम्मेलन के प्रस्तावों में जिन्हें दो शेष प्रदेश बताया गया है और जिनके बारे में चीन तथा भारत सरकारों के बीच कोलम्बो सम्मेलन के प्रस्तावों के अनुसार, समझौता होना है, वे हैं चे डाँग या थागला पहाड़ी और लौंगजू। इन दो इलाकों में वास्तविक नियंत्रण रेखा के बारे में दोनों सरकारों में मतभेद है।

मध्य सेक्टर :

कोलम्बो सम्मेलन की यह इच्छा है कि इस सेक्टर में पूर्व स्थिति कायम रखी जाये और दोनों में से कोई पक्ष इस स्थिति को भंग न करे।